ओम्

श्री नरहरिस्वामी कृत

बोधसार

भाषान्तरकार तथा व्याख्याकार—
पं० रामावतार विद्याभास्कर

मेहता चैरिटेबल प्रज्ञालय ट्रस्ट
दिल्ली द्वारा धर्मार्थ वितरित
www.rajrajeshwar.com

ॐ

प्राक्कथन

भगवान् भाष्यकार आचार्य श्रीशंकर ने उपनिषदों के रहस्यों को सुगम रीति से प्रकट करने की जो प्रक्रिया प्रकरणग्रन्थों द्वारा प्रवृत्त की, उसी के प्रभाव से असंख्य ब्रह्मविद्वरिष्ठों ने अपने पवित्र अनुभव से सिंचित रचनाओं का श्रेयःप्रद उपवन साधकों के कल्याणार्थ उत्सृष्ट किया। आकर ग्रन्थों को समझने की योग्यता पाने के लिये ऐसे साहित्य का आलोकन अनिवार्य है किंतु जो मुमुक्षु आकरों तक न भी पहुँच सके वह भी आचार्यों की इन अभिव्यक्तियों से आत्मानुभूति अर्जित कर सकता ही है। वेदान्त का रहस्य सुगमतर रीतिसे, बहुधा काव्यात्मकता से स्पष्ट करने वाला 'बोधसार' एक गम्भीर सरस किंतु अपेक्षाकृत कम प्रचारित ग्रंथ है। श्रीनरहरि स्वामी नामक सन्त इसके रचयिता हैं। इनका ऐतिह्य, काल, ग्रंथान्तर आदि का कुछ ज्ञान सुलभ नहीं है। पण्डित रामावतार विद्याभास्कर ने इसका अत्युत्तम हिन्दी व्याख्यान किया जिसके प्राक्कथन में ग्रंथ की दिवाकर पण्डित कृत टीका का भी उल्लेख है। हिंदी सहित ग्रन्थ का संवत् 2021 का एक संस्करण उपलब्ध हुआ। तदनुसार श्लोक-श्लोकार्थ प्रकाशित किये जा रहे हैं। लगभग साढ़े तेरह सौ श्लोकों का यह उत्तम प्रबन्ध क्रमशः इस तरह सर्वसुलभ होकर आत्मचिन्तन के लिये प्रबल सम्बल बने यह प्रकाशन में प्रेरक भावना है। वेदाध्ययन और बालसंस्कार इन दो योजनाओं में सोत्साह संलग्न श्री विष्णुदास मेहता जी वर्त्तमान जडवाद, बहिर्मुखता से खिन्न एवं इसमें मानव की निश्चित हानि देखकर आत्मवाद, अन्तर्मुखता की स्थापना के प्रति समर्पित हैं। उद्देश्य की सत्यता के बल से उनकी सफलता का विश्वास है। जब सौ बार बोला झूठ लोगों को स्वीकार हो जाता है तब सत्य क्यों नहीं होगा!—इस नीति से वे शंकराचार्य के विचारों को आबाल-वनिता- वृद्ध स्थापित करने-कराने में तत्पर हैं। सिद्धान्त में यह श्रद्धा उनको एवं उनसे प्रेरणा पाने वालों को पुरुषार्थसिद्धि दे ऐसी भगवान् श्रीदक्षिणामूर्ति से प्रार्थना है।

भगवत्पादीय

स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरि

ओम्

एक अभिलाषा

हे अच्युत ! हे अनन्त ! तुमको बार बार प्रणाम हो। मेरे प्रणामों का यह प्रवाह बहता जब तक तुम्हारे दरबार तक न जा पहुँचे और स्वीकार न हो जाय, तब तक मैं प्रणामों की झड़ी लगाता ही जाऊँगा। जैसे भूमि पर पड़ा–पड़ा डण्डा गल सड़कर भूमि में मिलकर अपनी भूमाता को सच्चा प्रणाम कर लेता है, ओ मेरी अच्युत नाम की माँ! अब तो मेरी एकमात्र यही इच्छा हैं कि मैं भी उस डण्डे की तरह तुममें गिर पड़ूँ, खो जाऊँ और वैसा ही नीरव प्रणाम कर सकूँ। हे अच्युत ! हे अनन्त ! मैं कब ऐसा प्रणाम कर सकूँगा? जिस दिन मैं ऐसा प्रणाम कर सकूँगा उस दिन को देखने के लिये मेरी आँखे तरस रही हैं।

हे अच्युत ! हे अनन्त ! तुमने तो सदा मौन रहना ही सीखा है। मौत की सी शान्ति को ही तुमने पसन्द किया है। शब्द और संकेत तुमको भाते ही नहीं हैं। तुमसे जो भी कुछ अब तक कहा जा रहा है उस किसी की भी कोई सूचना तुम्हारे एकान्त अन्तरम तक नहीं पहुँच पायी है। उस किसी का भी कोई उत्तर तुम्हारी ओर से अभी तक भी दिया नहीं गया हैं। उत्तर की प्रतीक्षा में मेरी आँखें पथरा चुकी हैं। बीते हुए अनन्त जन्मों में मैंने अनन्त बार तुम्हारी इस अनाद्यन्त मौनमुद्रा को तोड़ने की असफल चेष्टायें की हैं। परन्तु तुमने तो 'एक चुप सौ को हराय' बाला महासूत्र पढ़ रखा है। आज तो अन्त में मैं भी तुमसे हार मानकर बैठ गया हूँ।

अब तुमसे कुछ भी कहने को मेरा जी नहीं चाहता है। उसकी कुछ जरूरत भी तो नहीं है। क्योंकि बोलने का मतलब तुमको भूल जाना ही तो है और हे अच्युत नाम की माँ ! तुमको भूलकर जीवन का आनन्द कैसा ? और हे देव ! तुमको भूले बिना बोलना कैसे? अपनें मुँह के टुकड़े को छोड़े बिना कौवे का गाना कैसे ? देवो भूत्वा देवं यजेत् देव को पूजना हो तो पहले देव ही बन जाओ, तभी उसका यजन हो सकता हैं। सो आज मैं भी तुम्हारी ही तरह मौन होकर–पूरा–पूरा मौन होकर–पत्थर बनकर–अपने मन को ही 'चुप रह' कहकर, आपके जगदपवादाधिष्ठानरूपी चरण के नीचे, अपने आपको रखकर, अपना सर्वस्व बलिदान करके, आपका यजन करता हूँ और चाहता हूँ कि आप अपने इस पैर से, मेरा 'मैं' का मस्तक कुचल दीजिये। अण्डे में से पक्षी के बच्चे की तरह, इस अनन्तद्रोही 'मैं' में से, मुझे बाहर निकाल लीजिये। एक काम और कीजिये कि मेरे इस मौनावेष्टित मन को–आपसे मुझको अलग रखने वाले मन को–मेरे इस सर्वस्वबलिदान की दक्षिणा के रूप में लीजिये। हे अच्युत ! हे अनन्त ! मेरे अध्यात्मयोग नाम के काँपते हुए नन्हे से हाथ से, अनुभव के अक्षरों में, ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु पर, आप जो मौनसागर हैं, उसमें घुल जाने की, पूर्ण अनुमति लिखवा दीजिये। बस, मेरा जीवन सफल हो जायेगा। करने–धरने का, खोने–पाने का, मेरा दफ्तर सदा के लिये बन्द हो जायेगा। ओम्

ओम्

प्राक्कथन

ऋचोक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासतु।। -वेद

देवप्रकृति के सम्पूर्ण लोग, मनन और निदिध्यासन का परवाना लेकर, जिस परमाकाश में जा डटते हैं, ऋचायें तो उस घटघटवासी परमाकाश को बता रही हैं। उस परमाकाश को जिसने नहीं पहचाना है, वह यदि ऋचायें पढ़ भी लेगा तो उससे क्या होगा? देख लो, जो लोग उस तत्व को पहचान गये हैं वे लोग कैसे निश्चिन्त निःस्पृह और शान्त हुए बैठे हैं। क्या तुम्हें उनकी शान्ति को देखकर ईर्ष्या नहीं होती!

आज से नहीं, अनादिकाल से ही प्रत्येक प्राणी दुःखों से छूटने और सुखों को पाने के लिये व्यग्र हो रहा है। अपने सर्वोत्साह से वह इस काम में तभी से जुट भी रहा है। परन्तु तब से आजतक भी यह संसारी निश्चिन्त हो कर यह नहीं कह सका है कि 'बस अब मेरे काम समाप्त हो चुके'। इसे प्रत्येक समय कोई न कोई इच्छा या अभाव सताता ही रहता है। यदि किसी फूटे बरतन को पानी से भरने लगें और जितना भरें उतना ही उसमें से निकल जाय तो हम अवश्य ही उसे भरना छोड़ दें तथा पानी भरने का कोई दूसरा ही उपाय करें। परन्तु इतने लम्बे अनुभव के बाद भी, अनन्त असफलताओं के पश्चात् भी, सर्व सह होकर हम फिर वही-वही काम करते जा रहे हैं, जिन से न तो हमारे दुःख ही छूट पाये हैं और न हमें सुख ही मिल पाया है। संसार के प्रत्येक काम में प्राप्ति को-हासिल को-पहले देख लेनेवाले, फिर पीछे से काम में हाथ डालनेवाले, इस चौकन्ने प्राणी को, इस मुख्य विषय में प्राप्ति या हासिल का कुछ भी मालूम न होना, भेड़ों के पीछे चली जाने वाली भेड़ों की तरह अनुकरण तत्पर होकर कुछ भी करते जाना, सचमुच बड़ी ही शोचनीय बात है। मैं यह सब क्यों कर रहा हूँ? मैं इन दुःखों में क्यों फँस गया हूँ? यह बन्धन मेरे ऊपर क्यों और कहाँ से आ गया है? क्या मैं इससे कभी छूट भी सकूँगा? इत्यादि

कुछ भी मालूम न करना सचमुच बड़े ही आश्चर्य की बात है। दुनियादारी में तो खूब चौकन्ना और इस मुख्य विषय में पूरा–पूरा प्रमादी यह प्राणी, सचमुच अशरफ़ियाँ लुटाकर कोयलों पर मोहर लगाने वाला हो गया है। प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है कि वह अपने अनन्त जन्मों में किये गये उद्योगों पर अपनी विचार की दृष्टि फैलाकर यह मालूम करले कि क्या उन सब से उसे कुछ मिला है या वह सब व्यर्थ ही चला गया? यदि कुछ प्राप्ति न हुई मालूम पड़ती हो तो अब तक स्वीकार किया हुआ मार्ग – आँख मींचकर कुछ भी करते जाने का मार्ग–बाप–दादों, पड़ोसियों और बिरादरीवालों को देख–देख कर बेहासिल काम करते जाने का निष्फल मार्ग–बदल डालना चाहिये। पहले मार्ग की कमियों को मालूम करना चाहिये कि उस मार्ग में हमारे दुःख क्यों नहीं हटे और हमें सुख क्यों नहीं मिला?

बात यह है कि जो शरीर स्वभाव से ही दुःखों की चौपाल है, उनको जब भूल से अपना आपा मान लिया जाता है, तब उन शरीरों के जितने भी दुःख और आवश्यकतायें होती हैं– भौतिक होने से उनकी जितनी टूट–फूट होती हैं–वे सब अपनी ही समझ ली जाती हैं क्योंकि ये टूट–फूट कभी पूरी पूरी हट ही नहीं सकती । इसी से हमारे दुःख कभी भी अनादिकाल से आज तक भी हट नही पाते। शरीर, इन्द्रिय और मन की इस दुःखाभाव की मांग में हम भी अपनी 'हाँ'मिला देते हैं– इनकी इस मांग को अपनी मांग बना लेते हैं। भौतिक मकानों की टूट–फूट न होना जैसे अनहोनी बात है, इसी प्रकार इनमें दुःखाभाव का हो जाना भी एक अनहोनी बात ही है–इन शरीरों का कोई न कोई कलपुर्जा तो बिगड़ा ही करेगा। हम अपनी मूर्खता से इसी अनहोनी बात के लिये आँख बन्द करके उद्योग किया करते हैं और असफल होते जाते हैं–दुःखों का अभाव कर ही नहीं पाते हैं। क्योंकि दुःखाभाव का तो यह मार्ग ही नहीं था। तब से अब तक भी सुख न मिलने का कारण तो यह होता है कि जो वस्तु जहाँ नहीं है वहाँ से उसको मांगा जाता है तथा जहाँ वह हैं वहाँ से उसके विषय में पूछताछ तक नहीं की जाती। बिचारे गरीब विषयों के पास सुख है ही कहाँ कि वे दे देते। जिसके पास जो नहीं है उससे वह माँगना तो

माँगने वाले की मूर्खता है। इसी मूर्खता का दण्ड दुःख के रूप में हम सब को भोगना पड़ रहा है। उन गरीबों की गठरी में तो दुःख ही दुःख भरे हुए हैं। जब उनसे सुख माँगा जाता है तब वे बिचारे अपनी गठरी में से निकाल कर दुःखों को ही सुख बताकर दे देते हैं। अपनी बेसमझी के कारण हमें दुःख की जगह भी दुःख ही भोगने पड़ते हैं और सुख की जगह भी दुःख ही भोगने पड़ जाते हैं। यों हम दुःखाभाव भी नहीं कर पाते और सुख भी हमें नसीब नहीं होता। तब क्या सुख नाम की कोई वस्तु इस संसार में है ही नहीं? इसका उत्तर अध्यात्म यह देता है कि सुख तो आत्मा का ही दूसरा नाम है। कस्तूरीमृग जैसे अपनी ही कस्तूरी को तलाश करता फिरता हो, वही मज़ाक हमने इस अपने ही सुख के साथ कर रखा है। फिर बताइये वह वहाँ विषयों में से क्योंकर मिल जाता? यह सुख जब विषयों की ओढ़नी ओढ़कर आता है तब भी यह हमें दुःखमिश्रित सुख ही देता है। विषयों के द्वारा आने वाले इस सुख का नाम 'विषयसुख' होता है। जब तो यह सुख बिना आवरण के, बिना किसी बहाने के बे रोक–टोक होकर, नदी की बाढ़ की तरह उमड़ पड़ता है–नींद की तरह आक्रमण करता आता है– तब इसको 'केवल सुख' किंवा 'आत्मानन्द' कहते हैं। वह केवल सुख कैसे प्राप्त किया जाय? निरावरण, निर्व्याज, अखण्ड और निरापद आनन्द को कैसे पायें? इसका उत्तर देना, उसकी प्रक्रिया बताना ही 'राजयोग' का मुख्य काम है। उसी राजयोग पर श्रीनरहरि स्वामी ने 'न भूतो न भविष्यति' न हुआ न होगा जैसा यह 'बोध सार' नामक अपूर्व ग्रन्थ लिखा है।

इसमें पातंजलयोग, हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग आदि सभी प्राचीन मुख्य योगों का इतना विशद वर्णन है कि ये विषय इन विषयों के मुख्य ग्रन्थों में भी इतने स्पष्ट समझ नहीं पड़ते। आत्मा के सुखरूप तक न पहुँचा सकने की उन योगों की जो मुख्य त्रुटि है उसे समझाते हुए राजयोग का इतना मार्मिक, इतना सरल, इतना स्पष्ट और अनुभवपूर्ण वर्णन किया है कि पाठकों को इस वर्णन में अपनी ही दिनचर्या लिखी हुई मालूम होने लगती है। अपनी ही जन्मगाथा का उल्लेख प्रतीत होने लगता है। अपने विचारों का संकलन किया हुआ

ज्ञात होता है। राजयोग कितना स्वाभाविक है यह इसको भले प्रकार देखने से समझ में आ जायगा। गीता में जो राजयोग को **सुसुखं कर्तुमव्ययम्** करने में आसान से भी आसान बताया है सो भी इसको देखकर मान लेना पड़ेगा। इसक पढ़ते–पढ़ते ही मन्त्र और औषधि से बद्धवीर्य सांप की तरह पाठकों का मन बड़ी ही अद्‌भुत अवस्था में जा पहुँचता है। वह कभी खड़ा हो जाता है, कभी स्तब्ध हो जाता है। ज्ञान में कितनी मस्ती होती है? **सर्वंकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते** ज्ञान होने पर कर्मों का पूर्ण विराम कैसे हो जाता है? सो इसको पढ़ने ही से अनुभव में आ जायगा। राजयोग के प्रभाव से ज्ञानी का दृष्टिविपर्यय किस प्रकार हो जाता है? फिर वह संसार को कैसे दूसरे पहलू से देखने लग पड़ता है? वह किन–किन भूमिकाओं में होकर ज्ञानयात्रा किया करता है? ज्ञान किस तरह उसे भूत बनकर चिपट जाता है? उसे किस अद्‌भुत ढ़ंग से असंग रहना आ जाता है? वह कैसे अन्तःशीतल हो जाता है? वह कैसे जागता हुआ भी होश की नींद सो लेता है? वह कैसे अखण्ड ज्ञानदीपक जलाकर सर्वभाव से उसी की सेवा में मस्त हो जाता है? वह इच्छारूपी कूड़े से ढके हुए सच्चिदानन्द को–सोये पड़े हुए ओम् को–कैसी–कैसी लोरियों में लाकर जगा लेता है? उसके जाग उठने पर यह संसार कैसे ऊपर तले होने लगता है? अनुभव हो जाने पर साधक को कैसा सात्विक गर्व आता है? यह सब कुछ इस पुस्तक में देखने को मिलेगा।

इस भाषान्तर में इसके टीकाकार दिवाकर पण्डित की टीका से बहुत अधिक सहायता ली गयी है। कहीं–कहीं तो यह उस टीका का पूरा अनुवाद ही हो गया है। उससे अधिक जो कुछ है वह श्रद्धेय श्रीअच्युतमुनिजी से अध्यात्म प्रसंग बूझे जाने पर सुनी हुई बातें हैं। अपना इसमें कुछ भी नहीं है। पास की आवाज़ से कांसी के बरतन की तरह झंकारने वाला बस एक छोटा सा हृदय हमारे पास है। वह जैसे–जैसे बजता गया, उसे शब्दों में रखने का प्रयत्न हमने किया है। हां, जहाँ समझ की भूल दीख पड़े, जहॉ वह गलत बजता प्रतीत हो, जहॉ हम चूकते मालूम पड़े, वहीं हमारा अपना है। ग्रन्थकार की सब बातों से सहमत न होते हुए भी, व्याख्याकार के नाते अपनी ओर से

उनके भाव की पूरी–पूरी रक्षा करते हुए व्याख्या की गयी है। राजयोग के सम्बन्ध में तो ग्रन्थकार से हम पूर्ण सहमत हैं। अपितु उससे हमारे हृदय को बड़ी ही शान्ति मिली हैं। वैसी दूसरों को भी मिले यह भी एक कारण इस व्याख्या करने का हुआ है। श्रद्धास्पद श्री अच्युतमुनिजी की विशेष प्रेरणा से और ग्रन्थ का पूरा–पूरा मनन हो जाने के लोभ से भी हम इस काम में प्रवृत हुए हैं।

मिलावली डा० जसराना जि० मैनपुरी के रईस श्री ठाकुर कायमसिंह जी की सहायता से पाँच वर्ष से लिखा पड़ा हुआ यह ग्रन्थरत्न पाठकों को सुलभ हो सका है, तदर्थ पाठकों को उनका कृतज्ञ होना चाहिये। क्योंकि संस्कृत में तो यह ग्रन्थरत्न आजकल बनारस में १५) रूपये का मिलता है। बन्धुवर रघुवीरजी शास्त्री और श्री देवचन्द्रजी विशारद ने प्रूफ–संशोधन में जो सहायता दी है उसके भी हम कृतज्ञ हैं। इस पुस्तक को लिखते समय बाह्य चिन्ताओं से रहित हो करके श्री पं० गिरिधारीलालजी ने भी बड़ी सहायता की है

लेखन-स्थान
श्रद्धेय
श्री अच्युतमुनिजी का आश्रम गंगातीर

निवेदक-
रामावतार
रतनगढ़, जि० बिजनौर

ॐ

बोधसारः

ॐ किञ्चित्कुतूहलेनैव विदुषां प्रियकाम्यया।
मंगलाचरणं कृत्वा बोधसारो निरूप्यते ॥१॥

केवल इस थोड़े से कुतूहल में आकर कि—जिस गम्भीर आनन्द का मैंने साक्षात्कार किया है, अन्य आरुरुक्षु विवेकियों को भी वैसा साक्षात्कार हो सके—मंगलाचरण करने के पश्चात् यह बोधसार ग्रंथ बनाता हूँ।

अनन्तशक्तिसंदोहपूर्णस्य परमात्मनः।
विघ्नविध्वंसिनीं शक्तिं गणराजमुपास्महे ॥२॥

संसार की अनन्त शक्तियों के सन्दोहन (अर्थात् आदि मूलभूत शक्ति) से परिपूर्ण परमात्मा (अर्थात् कार्यकारणातीत तुरीय आत्मा) की विघ्नों का विनाश करनेवाली गणराज नामक शक्ति की हम (ऐकात्म्यभाव से) उपासना करते हैं।

या प्रकाशविमर्शाभ्यां स्वरूपावस्थितिं गता।
स्मरामि तामहं भक्त्या ज्ञानशक्तिं सरस्वतीम् ॥३॥

जो सरस्वती विमर्श (अर्थात् सदसद्विवेक) और प्रकाश (अर्थात् आत्मज्ञान) से फिर अपने स्वरूप को प्राप्त हो चुकी है परमात्मा की उस सरस्वती नाम की ज्ञानशक्ति को मैं भक्तिपूर्वक स्मरण करता हूँ। (तात्पर्य यह है कि आत्मदर्शन कर लेने के पश्चात् जब निरन्तर सदसद्विवेक रहने लगेगा तो साधक को अपने स्वरूप का लाभ हो जायगा)।

गुरुस्तवः

श्रीगुरून्परमानन्दस्वरूपानभिवादये।
तापत्रयापहा येषां कृपा ब्रह्मामृतप्रपा ॥४॥

परमानन्दस्वरूप हो चुके उन पूज्य गुरुओं को मैं अभिवादन करता हूँ, तीनों तापों को अपने कटाक्षमात्र से दूर भगा देने वाली जिनकी निष्कारण कृपा ही ब्रह्मरूपी अमृत की प्याऊ बन जाया करती है।

मदमोहाभिधक्रूरमधुकैटभजिष्णवे ।
मोक्षलक्ष्मी निवासाय नमः श्रीगुरुविष्णवे ॥५॥

मद (अहंकार) और मोह (अज्ञान) रूपधारी मधु और कैटभ नामक दोनों क्रूर राक्षसों पर विजय प्राप्त करनेवाले और मोक्षरूपी लक्ष्मी के निवासभवन श्रीगुरुरूप विष्णु को मेरा नमस्कार हो।

गुणैर्गौरवमायाता हरिब्रह्महरास्त्रयः ।
गुणातीततयाऽस्माकं गुरवो गुरुताङ्गताः ॥६॥

ब्रह्मा विष्णु और महेश ये तीनों तो सत्त्वादि तीन गुणों की सहायता से (जगत् की उत्पत्ति आदि करने के कारण गौण रूप से) गुरुता को प्राप्त हो गए हैं (इनकी गुरुता उन-उत्पत्ति आदि क्रियाओं के आधीन होने से प्रथम तो कृत्रिम होती है दूसरे परस्पर के उत्पत्ति आदि कर्म न कर सकने के कारण अपूर्ण भी है ही) परन्तु देखो हमारे गुरु लोग तो गुणातीत (गुणरहित) होने से स्वभाव ही से गुरुता को प्राप्त हुए हैं।

पुरान्तकहरो रुद्रः कंसकेशिहरो हरिः ।
चण्डमुण्डहरा चण्डी सर्वद्वन्द्वहरो गुरुः ॥७॥

रुद्र भगवान् ने तो त्रिपुर और यमराज को, विष्णु भगवान् ने कंस और केशि को तथा चण्डी देवी ने चण्ड-मुण्ड नामक राक्षसों को ही मारा है, परन्तु हमारे गुरुदेव की महत्ता को तो देखो! कि वे सम्पूर्ण (सुख दुःखादि) द्वन्द्वों का ही समूल नाश कर डालते हैं। (द्वन्द्वों के नष्ट हो जाने पर किसी को मारने किंवा किसी को पराजय करने जैसे तुच्छ भाव उदय ही नहीं होते)।

यच्छन्ति देवतास्तुष्टा धनमायुः सुतं यशः ।
ज्ञानं के नाम दास्यन्ति विना श्रीगुरुपादुकाम् ॥८॥

देवताओं में से यदि कोई प्रसन्न भी हो जाता है तो धन, ऐश्वर्य, सन्तान किंवा कीर्ति आदि विषय दे देता है (जिससे कि अनादि काल से संसारारण्य में भटकते हुए जीवों का कल्याण होना तो अलग रहा उल्टी और मोह-ममता बढ़ जाती है तथा वे नरक के गामी हो जाते हैं) परन्तु (आत्यन्तिक मुक्तिसाधन) ज्ञान जैसी पवित्र वस्तु को गुरुपादुका के सिवाय और कौन दे सकता है?

जयति श्रीगुरूणां हि चरणाब्जरजोगुणः।

हतास्त्रयो यदेकेन रजःसत्त्वतमोगुणाः ॥९॥

(शिष्योद्धार करने की वासना के रूप में वर्त्तमान) गुरुदेव के चरण कमल की धूलि का गुण (प्रभाव) ही मुमुक्षुओं के सब से अधिक काम की वस्तु है, जिस अकेले ही से सत्त्व रज तम ये तीनों गुण बाधित हो जाते हैं।

तार्या वयं तरिर्बोधस्तरणीयो भवार्णवः।

तत्कर्णधाररूपेण तारकं श्रीगुरुं भजे ॥१०॥

(विषयरूपी जल से भरा हुआ) यह संसाररूपी समुद्र हम मुमुक्षु लोगों को बोध अर्थात् आत्मसाक्षात्काररूपी नौका से पार करना होगा, उसके कर्णधार (केवट) बनकर तारनेवाले श्रीगुरु का मैं भक्तिभाव से चिन्तन करता हूँ।

तारकस्योपदेशेन गुरुर्भूत्वा विमुक्तिदः।

काश्यामपीश्वरस्तस्मादीश्वरादधिको गुरुः ॥११॥

काशी में भी ईश्वर तारक (ॐ) मन्त्र के उपदेश से गुरु बन कर ही मुक्तिदाता होता है इसी से कहते हैं कि गुरु तो ईश्वर से भी अधिक है।

गुरोरनुग्रहादीश ईश्वरानुग्रहाद् गुरुः।

श्री गुरोर्दर्शनं हेतुः परंत्वीश्वरदर्शने ॥१२॥

गुरु का अनुग्रह हो तो ईश्वर मिले, फिर ईश्वर अनुग्रह करें तो सद्गुरु मिले, उस सद्गुरु का दर्शन ही ईश्वर-दर्शन में मुख्य कारण माना जाता है।

ईश्वरः सर्वहेतुत्वाद्धेतुः संसारमोक्षयोः।

मोक्षस्यैव गुरुस्तस्मान्नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ॥१३॥

ईश्वर तो इस सम्पूर्ण (प्रपंच) का कारण होने से (रज तम से) संसार तथा (सत्त्व से) मोक्ष दोनों का ही कारण होता है परन्तु गुरु तो केवल मोक्ष ही का कारण होता है इसलिये (मुमुक्षु के लिये) गुरु से उत्कृष्ट कोई तत्त्व नहीं है।

विनापि क्षेत्रमाहात्म्यं गुरुमाहात्म्यतः किल।

विमुक्तिर्यत्र कुत्रापि, न काश्यां गुरुणा विना ॥१४॥

क्षेत्रमाहात्म्य न होने पर भी केवल गुरुकृपा से जहाँ कहीं भी मोक्ष प्राप्त हो जाता है। परन्तु गुरु कृपा के विना तो काशी आदि क्षेत्रों में भी मुक्ति नहीं होती।

क्षम्यतामिति किं वाच्यं प्रसीदेति किमुच्यताम्।
क्षमाप्रसादसंपूर्णः स्वभावादेव मे गुरुः ॥१५॥

(अन्य देवताओं के समान गुरुदेव से) 'क्षमा कीजिये', 'प्रसन्न होइये' यह कहने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि हमारे गुरुदेव तो स्वभाव से ही क्षमा और प्रसन्नता से परिपूर्ण हैं।

अथ शिष्यविवेकः

बीजं गुरूपदेशो हि जिज्ञासुः क्षेत्रमुच्यते।
विवेकांकुरजो बोधो द्रुमो मोक्षस्तु तत्फलम् ॥१॥

गुरूपदेश (आत्मसाक्षात्काररूपी वृक्ष का) बीज होता है, जिज्ञासु (अर्थात् अपने निर्व्याज आनन्द-स्वरूप को जानने की इच्छावाला शिष्य उस बीज के बोने की) भूमि है। 'क्या नित्य है क्या अनित्य' इस विवेकरूपी अंकुर से बोधरूपी वृक्ष उगता है। उस बोधरूपी वृक्ष पर मोक्षरूपी फल लगता है।

यद्यपि क्षेत्रबीजाभ्यां विना न द्रुमसंभवः।
किन्तु बीजमुपादानं निमित्तं क्षेत्रमुच्यते ॥२॥

यद्यपि यह ठीक है कि क्षेत्र और बीज दोनों ही के बिना वृक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती, (परन्तु इस हेतु से गुरु शिष्य में समता की कल्पना ठीक नहीं होती) किन्तु बीज ही वृक्ष का उपादान कारण होता है क्षेत्र तो केवल निमित्त कारण कहलाता है। (गुरु में शिष्य से यही विशिष्टता है)।

द्रुमो बीजपरिणामो न क्षेत्रपरिणामकः।
बोधो गुरुपरिणामो न शिष्यपरिणामकः ॥३॥

वृक्ष बीज का रूपान्तर है भूमि का नहीं। इसी प्रकार आत्मबोध गुरु का परिणाम है शिष्य का नहीं। (इस हेतु से आत्मज्ञान में गुरु की ही मुख्यता है शिष्य तो गौण होता है)।

द्रुमो हि बीजजातीयः क्षेत्रजातीयको नहि।
बोधो हि गुरुजातीयः शिष्यजातीयको नहि ॥४॥

वृक्ष अपने बीज की जाति का होता है, भूमि की जाति का नहीं। इसी प्रकार बोध भी गुरु की ही जाती का होता है, शिष्य की जाति का नहीं।

बीजेन बीजजातीयस्तरुः क्षेत्रे समर्पितः।
गुरुणा स्वात्माजातीयो बोधः शिष्ये समर्पितः ॥५॥

बीज अपने सजातीय वृक्ष को ही भूमि में उत्पन्न किया करता है। इसी प्रकार गुरु ने शिष्य (अर्थात् शुद्धान्तः करणवाले अधिकारी) में अपने सजातीय बोध को स्थापित किया है।

वह्निप्रभा हि वर्तिस्था तमो हन्ति प्रकाशते।
तमोहन्त्री प्रकाशात्मा प्रभैव न तु वर्तिका ॥६॥

बत्ती में निवास करनेवाली अग्नि की प्रकाशरूपा शक्ति ही अँधेरे को नष्ट करती और स्वयं भी प्रकाशित होती है, वहाँ अन्धकार को हटानेवाली और स्वयं भी प्रकाशित होने वाली प्रभा (लौ) ही है, बत्ती नहीं।

गुरुप्रभा हि शिष्यस्था तमो हन्ति प्रकाशते।
तमो हन्ता प्रकाशात्मा गुरुरेव न शिष्यकः ॥७॥

इसी प्रकाश शिष्य में रहनेवाली गुरु की प्रभा ही स्वरूपाज्ञान को नष्ट करती है तथा स्वयं (अन्य निरपेक्ष होकर) भी प्रकाशित होती है। अज्ञान को नष्ट करनेवाला तथा (अन्त में स्वयं) ज्ञान-स्वरूप से शेष रह जानेवाला गुरु ही है, शिष्य नहीं।

यदग्निः काष्ठमारुह्य भस्मसात् कुरुते पुरीम्।
भस्मसात्कारणं तत्र गुणो वह्नेर्न काष्ठगः ॥८॥

जैसे कि अग्नि ईंधन के सहारे से नगरी को भस्मावशेष (राख का ढेर) बना देती है (उसमें चाहे ईंधन और अग्नि दोनों ही समानरूप से आवश्यक प्रतीत होते हों) परन्तु उन दोनों में भस्म बना डालने का कारण जो गुण है वह तो अग्नि का ही है, काष्ठ का नहीं।

बोधात्मना गुरुः शिष्यमाविष्य दहति क्षणात्।
यद्द्वैतं, सा गुरोः शक्तिर्न शिष्यस्येति निर्णयः ॥९॥

इसी प्रकार जो कि गुरु (साधन-सम्पन्न) अधिकारी में (ज्ञान रूप से) प्रविष्ट होकर द्वैत (अर्थात् द्वैत प्रतीति के कारण अनादि अज्ञान को) क्षण-मात्र में

नष्ट कर देता है, वह सामर्थ्य किंवा प्रधानता गुरु की ही है शिष्य की नहीं, यह निश्चित है।

यद्यप्युदयने भानोर्यथा पद्मं प्रकाशते।
न काशन्ते तथा पद्माः काष्ठपाषाणमृण्मयाः ॥१०॥

सूर्य के उदय होने पर जिस तरह कि कमल खिलता है वैसे मिट्टी-पत्थर किंवा लकड़ी के बनावटी कमल नहीं खिलते।

प्रकाशको रविर्यद्वत्पद्ममेव विकासयेत्।
गुरुस्तथा बोधकः सच्छिष्यमेव प्रबोधयेत् ॥११॥

ऊपर के दृष्टान्त में जिस प्रकार प्रकाश करनेवाला सूर्य सच्चे कमल को ही विकसित करता है, बनावटी को नहीं। इसी प्रकार उपदेष्टा गुरु सच्छिष्य को ही प्रबुद्ध कर सकता है (अनधिकारी को नहीं)।

प्रकाशकस्य महिमा प्रकाश्यादधिकः किल।
सूक्ष्मं विशेषं वक्ष्यामि गुरुसूर्यस्य तं शृणु ॥१२॥

हे शिष्य, प्रकाशक (सूर्यादि) का महत्त्व (कमल आदि) प्रकाशयितव्य (जिनका प्रकाश करना है उन) पदार्थों से बहुत अधिक होता है इसमें कुछ संदेह मत करो। अब मैं तुम्हें गुरुसूर्य की (इस भौतिक सूर्य से विचारगम्य) विशेषता बताता हूँ, उसे सुनो।

तत्तद्विवेकवैराग्ययुक्तवेदान्तयुक्तिभिः।
शिष्यं नयति गुर्वर्कः स्वैक्यं स्वाद्भिन्नमप्यहो ॥१३॥

गुरुरूपी सूर्य आत्मानात्मविवेक कराने के पश्चात् अनात्म पदार्थों में वैराग्य कराकर वेदान्त की अन्वय व्यतिरेक आदि प्रबल युक्तियों के द्वारा अपने से भिन्न भी अधिकारी को अपने से अभिन्न कर देता है (यही गुरुरूपी सूर्य की एक बड़ी विशेषता है)।

विकासकोपि तपनो न पद्मं स्वैकतां नयेत्।
तस्मात्सर्वात्मभावेन सेव्या श्रीगुरुपादुका ॥१४॥

कमलों का विकास करने वाला यह लौकिक सूर्य कमलों को सूर्य नहीं बना सकता। इसी विशेषता के कारण (मुमुक्षुओं को) सर्वभाव से गुरु की पादुका का ही आश्रय लेना चाहिये।

तत्सत्यं दातृपात्राभ्यां विना दानं न सिद्ध्यति।
तथापि पात्रं पात्रं स्याद्दाता परमकारणम् ॥१५॥

इसमें तो सन्देह नहीं कि देने और लेनेवाले दोनों के बिना दान-क्रिया सिद्ध नहीं होती, तो भी (उन दोनों की परस्पर समता नहीं मानी जाती क्योंकि) पात्र आखिर—पात्र ही होता है, मुख्य कारण तो दान करनेवाला ही है।

भवेत्स्पर्शमणिस्पर्शाल्लोहं स्वर्णं न तन्मणिः।
गुरुस्पर्शमणिस्पर्शात्स एव भवति क्षणात् ॥१६॥

स्पर्शमणि (पारस) के संयोग से लोहे का स्वर्ण तो हो जाता है, वह लोहा स्वयं पारसमणि कभी नहीं बनता, परन्तु जब किसी अधिकारी शिष्य को गुरुरूपी पारसमणि का स्पर्श हो जाता है तो वह शिष्य तत्क्षण गुरु ही हो जाता है।

एवं विवेकतो धीमन्नुपयोगो द्वयोरपि।
शिष्यो निमित्तमात्रं स्याद्गरिष्ठा गुरुपादुका ॥१७॥

हे धीमन्! इस प्रकार का विचार करें तो (आत्मबोध में) गुरु और शिष्य दोनों का उपयोग समान रूप से होने पर भी शिष्य तो निमित्तमात्र होता है, गरिष्ठ अर्थात् अत्यादरणीय वस्तु तो गुरुपादुका ही है।

उपदेशक्रमो राम! व्यवस्थामात्रपालनम्।
इत्यादिवचनं तत्तु शिष्योत्साहविवृद्धये ॥१८॥

योगवसिष्ठ का 'हे राम उपदेशक्रम तो व्यवस्था का पालनमात्र है' इत्यादि वचन तो शिष्यों का उत्साह बढ़ाने के लिये है।

सिद्धान्तः सर्वतन्त्राणां सद्यः प्रत्ययकारकः।
सर्वदा भावनीयोयं गुरुशिष्यविनिर्णयः ॥१९॥

यह प्रकरण गुरु शिष्य के विषय में सर्वशास्त्रों का सिद्धान्त भूत है। इसके विचार करते ही गुरु की विशेषता झटपट समझ में आ जाती है। इसलिए यह 'गुरुशिष्य विनिर्णय' नामक प्रकरण सर्वदा विचारणीय है।

अथ ब्रह्मजिज्ञासा

जिस प्रयोजन से गुरु के पास श्रद्धापूर्वक जाना चाहिये उसका प्रतिपादन पाँच श्लोकों से किया जाता है—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जिज्ञास्यं ब्रह्म केवलम्।
तटस्थलक्षणेनाथ स्वरूपस्य च लक्षणात् ॥१॥

जब कोई अधिकारी नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि चारों साधनों से सम्पन्न हो चुके, तो उसे केवल ब्रह्मज्ञान ही इष्ट रह जाता है, इसलिए अब उसे ब्रह्म को जानने की इच्छा करनी ही चाहिये। केवल अर्थात् निरुपाधिक ब्रह्म ही जानने की इच्छा का विषय है। तटस्थ लक्षण से ब्रह्म को लक्षित करने के पश्चात् स्वरूप लक्षणों से केवल ब्रह्म भी ज्ञान का विषय हो सा जाता है।

उत्पत्तिस्थितिनाशानां मूलकारणमीश्वरः।
सर्वज्ञः सत्यसंकल्प इत्यादिषु तटस्थता ॥२॥

वह ईश्वर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का मूल कारण है, वह सर्वज्ञ (सर्व जगत्प्रकाशक) तथा सत्यसंकल्प है इत्यादि लक्षण ब्रह्म के तटस्थलक्षण कहाते हैं (तटस्थ इसलिये कि ये लक्षण इन क्रियाओं के होने पर ही हो सकते हैं। शुद्ध ब्रह्म में ये लक्षण नहीं पाये जाते)।

सच्चिदानन्दरूपं तत्स्वप्रकाशं परात्परम्।
अनण्वित्यादिवेदोक्तं स्वरूपस्य तु लक्षणम् ॥३॥

सत् (त्रिकालाबाधित) चित् (ज्ञानस्वरूप) आनन्द (निरतिशय तथा निर्व्याज सुखस्वरूप) स्वयं ज्योतिःस्वरूप पर से भी पर (माया से भी असंपृक्त) अनणु अह्रस्व अदीर्घ इत्यादि उपनिषदों में प्रतिपादित लक्षण, ब्रह्म के स्वरूपलक्षण होते हैं।

गुणप्रधानभावेन यद्यत्किंचिदपेक्षितम्।
नानाप्रकरणव्याजैस्तत्सर्वमभिधीयते ॥४॥

(मोक्ष का प्रधान साधन जो ज्ञान है उसके लिए) गौण किंवा मुख्य भाव से अन्य जिस जिस साधन की अपेक्षा हुआ करती है, अनेक प्रकरणों के द्वारा अब मैं उन सब साधनों का प्रतिपादन करूँगा।

बहिरंगान्तरंगाणां साधनानामनुक्रमः।
यदन्तरंगं यस्मात्तु तत्पश्चात्तु निरूप्यते ॥५॥

(आत्म दर्शन का मुख्य साधन ज्ञान है उसके) बहिरंग तथा अन्तरंग साधनों की जिस-जिस क्रम से अपेक्षा हुआ करती है उसी क्रम के अनुसार पहिले

बहिरंग साधनों का निरूपण करने के अनन्तर, अन्तरंग साधनों का वर्णन इस ग्रन्थ में किया जायगा।

अथ वैराग्यपीठिकाबन्धः

वैराग्यपीठिकाबन्धं प्रथमं शृणु सन्मते।
न नेमिरेव यत्रास्ति स्थितिश्चक्रस्य कीदृशी ॥१॥

हे सन्मते! वैराग्यक्रम को प्रतिपादन करनेवाले प्रकरण को पहले सुन लो। क्योंकि जैसे बिना नेमि (पुट्ठी) का चक्र (पहिया) स्थिर नहीं रह सकता इसी प्रकार वैराग्य के बिना कोरे ज्ञान में अज्ञान को नष्ट करने का सामर्थ्य नहीं होता।

न शूद्रे वेदसंस्कारस्तैलं च सिकतासु न।
न स्यात्करतले रोम तथा मुक्तिर्न रागिणि ॥२॥

जैसे कि शूद्र को वेदोक्त संस्कार नहीं होते, बालू में तेल नहीं निकलता, हथेली पर केश नहीं उपजते, इसी प्रकार रागी (अर्थात् विषयकर्दम में फँसे) पुरुषों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। (इसलिए वैराग्य सब से आवश्यक होता है।)

वैराग्यं द्विविधं, सूक्ष्मं तद्भेदमवधारय।
जिज्ञासामुख्यमेकं स्याज्जिहासामुख्यमेव च ॥३॥

वैराग्य (विषयों से विमुखता) दो प्रकार की होती है उसके सूक्ष्म भेद को समक्ष लो। एक 'जिज्ञासामुख्य' वैराग्य होता है दूसरे को 'जिहासामुख्य' कहा जाता है।

जिहासा संसृतेर्ब्रह्मजिज्ञासेति द्वयं मुने।
एकमेव तथाप्यस्ति विशेषः कश्चिदत्र हि ॥४॥

हे मुने! 'संसार को छोड़ने की इच्छा' और 'ब्रह्म को जानने की इच्छा' ये दोनों बातें एक ही हैं तो भी इनमें कुछ भेद हैं।

राज्यभ्रष्टा दीर्घरोगाः पराधीना हतश्रियः।
ये विरक्तस्तपस्यन्ति जिहासामुख्यमेव तत् ॥५॥

राज्य छिन जाने पर, आजीवन रोगी हो जाने पर, किंवा पराधीनता आ पड़ने पर अथवा सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर विषय भोगों से विरक्त

होकर जो लोग तप करने लगते हैं (और चाहते हैं कि ऐसा कष्टकारक जन्म कभी न मिले, प्रत्युत ऐसा हो कि जिसमें सकल सम्पत्तियाँ हाथ बाँध कर हमारी इच्छा से नाचा करें, जिसमें ऐसे दुःखों का लेश भी न हो) उनका ऐसा वैराग्य जिहासामुख्य वैराग्य कहाता है। (इसको अधम वैराग्य जानना चाहिये क्योंकि इससे दूसरे जन्म में भोगों की प्राप्ति होकर ही रहती है)।

आधिव्याधिभयोद्वेगपारतन्त्र्यादिवर्जिताः।
ये धीरा मुक्तिमिच्छन्ति शृणु तेषामयं क्रमः ॥६॥

जिन लोगों ने मानसी व्यथा, शरीर कष्ट, भय, चित्त की अस्थिरता तथा कष्टकारिणी पराधीनता को कभी भी अनुभव नहीं किया, जो धीर (अर्थात् ब्रह्मचर्यादि साधनों से सम्पन्न) हैं, ऐसे लोग जब मुक्ति को चाहने लगते हैं उन लोगों का आचार जिस प्रकार का होता है वह हमसे सुनो–

कामधेनुर्गृहे येषां निवासो नन्दने वने।
कश्यपाद्यास्तपस्यन्ति जिज्ञासामुख्यमेव तत् ॥७॥

जिनके घर में कामधेनु बँध रही है तथा नन्दनवन में जिनका निवास है ऐसे सम्पन्न कश्यप आदि ऋषिगण भी जब तप करने लगते हैं, तव वह उनका जिज्ञासामुख्य वैराग्य होता है।

आधिव्याधिभयोद्वेगपारतन्त्र्यादिपीडिताः।
ये जीवा मोक्षमिच्छन्ति जिहासामुख्यता तु सा ॥८॥

आधि, व्याधि, भय, उद्वेग और पराधीनता आदि से पीडित होकर जो जीव मुक्ति चाहने लगते हैं, तब यह वैराग्य (मध्यम) जिहासामुख्य वैराग्य कहाता है, (क्योंकि इसमें त्यागेच्छा की प्रधानता रहती है)।

मानुष्यं दुर्लभं प्राप्तं सच्छास्त्रैः संस्कृता मतिः।
यदि न ब्रह्मविश्रान्तिस्तदस्माभिः किमर्जितम् ॥९॥
इत्येवं व्यवसायेन ह्याकाशफलपातवत्।
जिज्ञासयन्ति ये धीराः जिज्ञासामुख्यता तु सा ॥१०॥

दुर्लभ मनुष्य शरीर भी प्राप्त किया, वेदान्तादि सच्छास्त्रों के परिशीलन से बुद्धि को सूक्ष्म (संस्कृत) भी कर डाला, इतने पर भी यदि (निरवधि

आनन्दरूप) ब्रह्म में चित्त की स्थिरता न हुई तो हमने क्या कमाया—इस प्रकार के निश्चय से, आकाश से अचानक फल गिरने के समान जब कोई जीव अकारण ही जिज्ञासा करने लगता है, तब उनका वह वैराग्य (मध्यम) जिज्ञासामुख्य वैराग्य कहाता है।

विरोचनः कार्त्तवीर्यो बलिः श्रीराघवादयः।
विरक्ता राजलीलायां ते हि तत्र निदर्शनम् ॥११॥

बलि का पिता दैत्य विरोचन, कृतवीर्य राजा का पुत्र सहस्रार्जुन, विरोचन का पुत्र दैत्य बलि तथा श्रीरामचन्द्र आदि अपने-अपने राजकाज को उदासीन रहते हुए भी सम्पादन करते थे, ये लोग मध्यम जिज्ञासामुख्य वैराग्य के उदाहरण हैं।

तीव्रात् संसारवैराग्याद् ब्रह्मजिज्ञासनं यदि।
वैराग्यं पुण्यजीवानां जिहासामुख्यमेव तत् ॥१२॥

संसार में अति प्रबल वैराग्य हो जाने पर (निराश्रय होकर) जब जीव ब्रह्मज्ञानेच्छा करने लगता है, पुण्यशाली जीवों का वह वैराग्य उत्तम जिहासा मुख्य वैराग्य कहाता है।

ब्रह्मजिज्ञासया तात तीव्रया यो विधीयते।
विरागो दृश्यभावेषु जिज्ञासामुख्यमेव तत् ॥१३॥

हे तात! तीव्र ब्रह्मजिज्ञासा से दृश्य पदार्थों में जो वैराग्य उत्पन्न होता है, वह उत्तम प्रकार का जिज्ञासामुख्य वैराग्य कहाता है।

सहजं यस्य वैराग्यं का वाच्या तस्य मुख्यता।

परन्तु जिस उत्तम अधिकारी को (सर्वत्र आत्मदर्शन के कारण) स्वभाव से ही भोगों में वितृष्णता हो गई हो वह वैराग्य तो उन दोनों प्रकार के वैराग्यों का ललामभूत है।

अथ दोषाः प्रदर्श्यन्ते वैराग्यं दोषदर्शनात् ॥१४॥
कथयामि समासेन सावधानमनाः शृणु।
असमंजसतां साधो समारभ्य शरीरतः ॥१५॥

क्योंकि विषयों के दोषों का प्रदर्शन ही वैराग्य को उत्पन्न किया करता है, इसलिये अब अगले प्रकरण में संसार के दोषों का निरूपण किया

जाता है। हे साधो! शरीर से लेकर जिस-जिस विषय में जो-जो दोष भरे पड़े हैं उनको संक्षेप से निरूपण करता हूँ स्थिरचित्त होकर तुम उन सबको सुन लो।

कायबिडम्बना

यं भूषयन्ति कनकैर्वसनैश्चन्दनैरपि।
अविचारत एवायं कायो रम्यत्वमागतः ॥१॥

जिस शरीर को सोने के आभूषणों से, कपड़ों से, और चंदनों से, सजाना पड़ता है तो फिर इससे यह सिद्ध तो हो ही गया कि यह शरीर अविचार की महिमा से ही रम्य प्रतीत हुआ करता है।

अस्य क्रव्यादभक्ष्यस्य कृशानोरिन्धनस्य च।
परिणामकृशस्यैव केन कायस्य रम्यता ॥२॥

हिंसक पशुओं के भक्ष्य, अग्नि के ईंधन, तथा बुढ़ापे में कमजोर (जरजर) हो जाने वाले इस देह में सुन्दरता कहाँ है, सो ही समझ में नहीं आता।

कलेवरमिदं स्थानं विग्रहो मूर्त्तिमानसौ।
पञ्चभूतनिवासोऽयं कथं तत्र सुखी भवेत् ॥३॥

यह शरीर कलि (कलियुग और काल) का अत्यन्त प्रिय निवासस्थान तथा शरीरधारी विग्रह है (अर्थात् परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले भूत तथा भौतिक इन्द्रियों से यह देह बना है इनमें परस्पर विग्रह—खींचातानी—बनी रहती है) साथ ही यह शरीर पाँच भूतों का निवास-स्थान है, ऐसे इस देह में कैसे कोई सुखी रह सकता है (जब कि एक भूतवाले स्थान में भी निवास दुःखदायी हो जाता है फिर पाँच भूतों के समूह में सुख कहाँ ?)

कारागृहं गर्भवासो बाल्यं केवलमूढता।
तत्रापि दुःसहात्यन्तं पराधीनतया स्थितः ॥४॥

माता के उदर में (नौ मास तक) निवास पूरा कारावास है (वहाँ सुख की आशा कहाँ?) बालकपन केवल मूर्खतापूर्ण होता है (बालकपन में दुःख का मूल कारण अज्ञान बना रहता है, सुख का हेतु ज्ञान वहाँ सर्वथा नहीं होता, इस प्रकार अति दुःखदायक तो है ही) साथ ही वहाँ खाने-पीने खेलने-कूदने में भी पराधीनता होने से वह अवस्था और भी

असहनीय हो जाती है।

कामबाणैर्यत्र पीडा कामिनीविरहज्वरः।

पुष्कला पापसम्पत्ति यौवनः विपदां वनम् ॥५॥

जवान शरीर में कामविकार प्राणी के चित्त को खिन्न रखते हैं, सकामा स्त्री के न मिलने का ज्वर भी रहता ही है। सम्पूर्ण दुःखों के मूल पाप भी यौवन में ही अधिकता से कमाये जाते हैं, इस प्रकार यह यौवन विपद्वृक्षों का एक वन है। (इसमें तो ढूंढे भी सुख नहीं मिलेगा)

उन्नतानततां यातो जराक्षारविधूसरः।

पुराणकूष्माण्डसमः कायो वृद्धस्य गर्हितः ॥६॥

वृद्ध का शरीर चलते समय ऊँचा-नीचा होता है—डगमगाता है (जिसे देखकर बालक हँसी उड़ाते हैं) बुढ़ापे के क्षार से (खुजाये हुए दद्रु (दाद) की तरह) धूसर वर्ण तथा पुराने पेठे की तरह (अन्दर से सड़ा हुआ, निस्सार (पोला)) हो जाता है, इस प्रकार वृद्ध का शरीर एक नितान्त अनादरणीय पदार्थ होता है।

मरणस्य तु किं वाच्यं मृत्युदूतभयं ततः।

नरके तु महादुःखं स्वर्गे पतनजं भयम् ॥७॥

मरने के दुःख का तो वर्णन ही क्या करें (वह तो दुःखों में सबसे बड़ा दुःख किंवा दुःखों की पराकाष्ठा ही है। क्योंकि मरना कोई (कुष्ट रोगी तक) भी नहीं चाहता) मरने के बाद यमदूतों का डर भी तैयार है ही, उसके बाद नरक की घोर यातनायें हैं। यदि किसी पुण्यशाली को भाग्यवश स्वर्ग मिल गया तो वहाँ 'यहाँ से लौटना होगा' यह विचार भी कुछ कम भयकारक नहीं होता।

उत्तमाधमभावेन तत्राप्यस्ति विडम्बना।

यदि पश्वादियोनिः स्यात्तदा दुःखस्य का कथा ॥८॥

स्वर्ग से लौटने के दुःख के साथ-साथ उत्तम मध्यम तथा निकृष्टभाव भी स्वर्ग में है ही। यदि कहीं पश्वादि योनि की प्राप्ति हो जाती है, तब तो दुःख की कुछ हद ही नहीं रह जाती, उनका तो खाना-पीना भी दूसरों के अधीन हो जाता है।

पुनर्जन्म पुनर्मृत्युः पुनर्दुःखं पुनर्भयम्।
न जानाति गतिं जन्तुर्निमग्नो मोहसागरे ॥६॥

मरण के अनन्तर जन्म, जन्म के अनन्तर मृत्यु, सुख के अनन्तर दुःख और फिर भय, बस यही तो संसार की गति है। इस अपार मोहसागर में डूबा हुआ जीव परमगति परमात्मा को नहीं पहचान पाता (इससे फिर संसारसागर में लापटकने वाले ही कर्म किया करता है)।

अथ वृत्तिविडम्बना

क्षात्रधर्मे परा हिंसा याञ्चायां लाघवं महत्।
असत्यमेव वाणिज्ये नानृतात्पातकं परम् ॥१॥

क्षात्र धर्म तो हिंसा से भरा हुआ है। माँगने में भी बड़ा अनादर सहना पड़ता है। व्यापार में भी झूठ के बिना काम नहीं चलता, (झूठ बोलना स्वयं चाहे दुःखप्रद न हो परन्तु) झूठ से बड़ा कोई पाप नहीं है (इसलिए वह भी दुःखरूप ही है)।

सेवायां परमं कष्टं मृत्कीटस्तु कृषीवलः।
द्यूते सर्वस्वनाशः स्याच्चौर्ये राजभयं महत् ॥२॥

सेवा (करके वृत्ति उपार्जन करने) में भी बड़ा कष्ट है। किसान बिचारा तो मिट्टी का एक कीड़ा ही है, द्यूत में सर्वस्व नाश हो जाता है, चोरी (से जीविका चलाने) में भी राजदण्ड का भय रहता है।

नाकाशात् पतति द्रव्यं जीविका सुखदा कथम्।

(अगतिक होकर इन ही वृत्तियों) में से किसी एक से निर्वाह करना पड़ता है क्योंकि आकाश से तो द्रव्य बरसता ही नहीं, इसलिये जीविका सुखदायी कैसे हो सकती है।

अथ कामविडम्बना

चर्वयन्ति महामांसं गते प्राणे पिशाचकाः।
जीवत्परस्परं मांसं स्त्रीपुंसाश्चतुराननाः ॥१॥

(सुनते आये हैं कि) पिशाच लोग प्राण निकल जाने पर मुर्दे मनुष्य के मांस को खाते हैं। परन्तु संसार के चतुर मुख वाले दम्पत्ति तो एक दूसरे के जीवित मांस को चबाते हैं (मैथुन से शरीर को पोषण करनेवाला पदार्थ नष्ट होकर

दोनों ही रोगी और दुःखी होते हैं। एक दूसरे के दुःख दूर करने तथा जीविकोपार्जन आदि में भी दोनों का ही मांस-शोषण होता रहता है)।

नृदेहैर्निशि नृत्यन्ति श्मशानेषु पिशाचकाः।
विचित्रै रङ्गविन्यासैर्गृहेषु गृहमेधिनः ॥२॥

पिशाच लोग तो दूसरे मृत मनुष्यों के देहों के द्वारा केवल रात में फिर भी एकान्त श्मशान जैसे अमंगल स्थानों पर ही नृत्य करते हैं, परन्तु ये गृहमेधी लोग तो स्वयं अपनी ही देहों से दिन रात निर्लज्ज होकर अपने ही घरों में विचित्र हावभाव पूर्वक नृत्य किया करते हैं (यों कामी लोग तो पिशाचों से भी अधिक अविवेकी होते हैं और यह सब काम का ही प्रताप है)।

लिहति स्पृशति भ्रान्तो मुहुर्जिघ्रति खादति।
ग्रामसिंहानुरूपेयं ग्राम्यधर्मव्यवस्थितिः ॥३॥

जिस प्रकार कुत्ता इधर उधर घूमकर अपने भक्ष्य को कभी स्पर्श करता है कभी सूंघता है और कभी चाटता है और अन्त में निःसंदेह होकर खाने लगता है, ठीक यही अवस्था ग्राम्यधर्म (मैथुन) की भी है (यह तो केवल कुत्तों को ही शोभा देनेवाली बात मानी गयी है। यह विपरीत स्वभाव काम का ही किया हुआ है)।

कण्डूयनेन यत्कण्डूसुखं तत्किं भवेत्सुखम्।
पश्चाद्यत्र महापीडा तथा वैषयिकं सुखम् ॥४॥

खुजली हो जाने पर खुजाने से जो सुख प्रतीत होता है उसे क्या कभी सुख कहा जा सकता है, क्योंकि खुजाने के बाद ही बड़ा भारी दुःख उत्पन्न होता है, ऐसा ही यह विषयघर्षणजन्य सुख है (वह यद्यपि नाश, रोग, चिन्ता आदि दुःखों से परिपूर्ण ही है फिर भी कामी लोग काम के पराधीन होकर इन दुःखरूप विषयों में सुख बुद्धि कर ही बैठते हैं)।

नादासक्तं मृगं व्याधश्छिनत्ति निशितैः शरैः।
रूपासक्तं नरं नारी रतिच्छुरिकयाऽसकृत् ॥५॥

शिकारी लोग बाजे के मधुर शब्द में आसक्त हुए मृग को तीक्ष्ण बाणों से सिर्फ एक बार मार डालते हैं, परन्तु कामिनी तो रूप के लोभी पुरुष को रति (मैथुन) रूपी छुरी से प्रतिदिन मारती रहती है (फिर भी कामी लोगों की

शत्रुरूप कामिनी में मित्रबुद्धि काम के प्रताप से हो ही जाती है)।

अथ क्रोधविडम्बना

रुधिरं पिबति स्वीयं दिवा तमसि नृत्यति।
भीषयत्यात्मनात्मानं क्रूरः क्रोधी न राक्षसः ॥१॥

क्रोधी मनुष्य अपना ही रक्त पीता है (राक्षस तो दूसरों का रक्त पीते हैं। उन्हें चाहे कभी दया आ भी जाती हो, पर अपना ही रक्त पीनेवाले क्रोधी को दया कहाँ ?) क्रोधी दिन में ही क्रोधान्धकार में नाचता है। (क्रोधी को दिन में भी अँधेरा-सा प्रतीत होता है) क्रोधी अपने आपको ही डराता है (राक्षस दूसरों को डराते हैं अपने-आपको नहीं। अपने में दयाशील होने के कारण राक्षस से भी दया की आशा की भी जा सकती है, परन्तु क्रोधी से कभी नहीं) इससे यह सिद्ध होता है कि क्रोधी लोग क्रूर होते हैं, राक्षस नहीं।

अथ लोभविडम्बना

न पिशाचा न डाकिन्यो न भुजंगा न वृश्चिकाः।
संभ्रान्तयन्ति मनुजं यथा लोभो धियं रिपुः ॥१॥

पिशाच, डाकिनी, सर्प और वृश्चिक ये सब (पृथक्-पृथक् किंवा मिलकर) मनुष्य को उतना विचलित नहीं करते जितना कि लोभ बुद्धि को भ्रांत बना देता है (इसलिए लोभ एक बड़ा भारी शत्रु है)।

मेरवो घृतबिन्द्वाभा दुराशादावपावके।
कथं सहस्रलक्षाद्यैस्तर्हि तृप्यतु लोभवान् ॥२॥

विषयाशारूपी दावाग्नि में सुवर्णमेरु जैसे बड़े-बड़े पर्वत भी केवल एक घृतबिन्दु के समान तुच्छ (थोड़े से) प्रतीत होने लग जाते हैं फिर भला हजार लाख आदि द्रव्य से लोभी क्योंकर तृप्त हो।

आनिद्रं प्रातरारभ्य जाग्रति स्वप्नपूर्ष्वपि।
भ्रमन्नो लभते शान्तिं स लोभस्य पराक्रमः ॥३॥

यह जो बिचारा जीव प्रातःकाल से लेकर सोने के समय तक तो जागरण अवस्था में भ्रांत होकर, फिर सपने के कल्पित नगरों में घूम-घूम कर भी शान्ति को प्राप्त नहीं होता है, यह सब लोभरूपी शत्रु का ही तो पराक्रम है।

निधानं यक्षसर्पाद्या यदाक्रामन्ति यत्नतः।

न पिबन्ति न खादन्ति तेषां हि गुरवः शठाः ॥४॥

यक्ष सर्प आदि जिस खजाने पर डटकर बैठे रहते हैं उसे खान-पान में व्यय नहीं करते, उनके गुरु ये लोभी लोग ही हैं (अर्थात् इस लोभियों से ही उन्होंने इस प्रकार धनराशि पर निकम्मा पहरा देना सीखा है।)।

दानभोगविहीनं च यदेव धनिनो धनम्।

न तु तस्य मुखे धूलिर्दीयते भूमिगोपनैः ॥५॥

जिस धनी का धन न तो दान (देकर परलोक) के काम आता है और न भोग (करके इस लोक) के काम में ही लगता है वह उसका कुछ धन न समझना चाहिए, वह तो उसका चौकीदार है। (पुरुष के मरने पर उसके मुख में सोना डालने की परिपाटी के अनुसार) उस धनी के मरने पर राजा लोग (जो कि मरने के अनन्तर उसकी सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं।) उसके मुख में सोने के बजाय धूल भी तो नहीं डालते।

मूढस्ताम्रमये पात्रे संस्थापयति किं धनम्।

पात्रे स्थितं धनं भद्रं किन्तु पात्रं परीक्षय ॥६॥

मूर्ख मनुष्य ताँबे के बरतन में रखकर धन को क्यों गाड़ता है, पात्र में रखा हुआ धन लाभदायक तो होता है किन्तु पहले पात्र की परीक्षा तो कर लो।

काकविष्ठाधनस्यार्थे कायक्लेशेन भूयसा।

मदान्धा धनिनः सेव्या महतीयं विडम्बना ॥७॥

कौवे की बींट के तुल्य हेय (तुच्छ) धन के लिए बड़ा भारी शरीरक्लेश सह-सह कर द्रव्यमद से अन्धे श्रीमान् लोगों के आगे पीछे फिरा जाय, यह तो एक बड़ी ही अनार्यता (कमीनापन) है।

न लोभस्योपचाराय मणिमन्त्रौषधादयः।

मणिमन्त्रौषधश्लाघी सोपि लोभपरायणः ॥८॥

लोभ नामक रोग को हटाने में मणि मन्त्र तथा औषध आदि भी समर्थ नहीं होते। क्योंकि यदि इनसे लोभ की निवृत्ति हो जाया करती, तो इनके जानने वाले लोभी क्यों होते।

किञ्चिद्धनकणं ध्यात्वा मुखमाढ्यस्य पश्यसि।
करोसि श्वेव चाटूनि लोभेनापकृतं स्मर ॥९॥

थोड़े से तुच्छ धन के लिए तू अमीरों का मुँह ताकता है और कुत्ते की तरह खुशामदें कर रहा है लोभ के किये हुए इस अपकार को तो तू याद कर।

लोहार्गलो भद्रहरो लोलातङ्को भयप्रदः।
लुनात्युभौ च यल्लोकौ तेन लोभः प्रकीर्त्तितः ॥१०॥

लोभ शब्द में दो अक्षर हैं एक 'लो' दूसरा 'भ'। 'लो' का अर्थ लोहे की जंजीर 'भ' का अर्थ है भलाई को हरनेवाला। 'लो' का दूसरा अर्थ है लोकातंक अर्थात् चंचलता का रोग 'भ' का दूसरा अर्थ है भयप्रद। 'लो' और 'भ' का तीसरा अर्थ है दोनों लोकों को नष्ट करनेवाला, यों इतनी बुराइयों वाला यह 'लोभ' है।

सकामाः काममिनीलुब्धा निष्कामा मोक्षलोभिनः।
भावलब्धो हि भगावन् निर्लोभोऽत्यन्तदुर्लभः ॥११॥

सकाम लोग कामिनी (और काँचन) के लोभी हैं, निष्काम लोगों को भी मोक्ष का लोभ लगा ही है, भगवान् भी भाव (प्रेम) के लोभी प्रसिद्ध ही हैं। निर्लोभ (लोभ-रहित–केवल ब्रह्म निष्ठ) पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है। (उस ही के आश्रय से लोभ को जीता जा सकता है)

दुग्धफेनोज्ज्वला शय्या बाला चरणसेविनी।
निद्रां न लभते भूपः परराष्ट्रजिगीषया ॥१२॥

दूध के झागों के समान श्वेत पलँग और चरण सेवा के लिये नयी युवती जैसे साधनों के होने पर भी, दूसरे के राष्ट्र को जीतने के लोभ से राजा को नींद ही नहीं आती, रातें उसकी चिन्ता में ही कटती हैं (अर्थात् जो जितना बड़ा है उस पर उतना ही बड़ा लोभ सवार है)।

मार्गेषु मिलिताश्चौराः सख्यं तैः सह वर्धितम्।
ते गता धनमादाय पश्चाच्छोचति मन्दधीः ॥१४॥

पहिले तो (संसार रूपी कान्तार में घूमते घूमते) मार्ग में स्त्री पुत्रादि रूपधारी चोर मिले, फिर उनके साथ मित्रता बढ़ने लगी, वे लोग अपनी गाढ़ी कमाई का धनादि व्यय कराकर अपनी-अपनी कर्मगति से परलोक आदि को चले

गए, पीछे से यह मूढ़ मनुष्य शोक करने लगता है।

स्वामी तु चौरवद्द्रव्यं गोपायति यतस्ततः।
भार्यापुत्रादयश्चौरा भुंजते स्वामिनो यथा ॥१५॥

कमाने वाला मालिक तो चोरों की तरह जैसे-तैसे जिस किसी से इधर-उधर से धन को बचाता है। (न दान करता है, न स्वयं भोगता है) और भार्या पुत्रादि चोर मालिक की तरह (खुल्लमखुल्ला—प्रकट रूप में) उस धनको भोगते रहते हैं।

पुत्रमित्रकलत्रेभ्यो गोप्यते यद्धनं जनैः।
तेन मन्येऽवनं पापं सुकृत्या गोप्यते नहि ॥१६॥

पुत्र मित्र कलत्रादि किसी को न देकर सब से धन को बचा रखना भी केवल पापरूप अर्थात् दुःखदायक है इसलिये पुण्यकर्मा लोग धन को जोड़ते ही नहीं।

रागिणी गणिका वित्तं यद्वाच्छति वरा हि सा।
धिक्तं वैराग्यवक्तारं वाचालं वित्तलम्पटम् ॥१७॥

रागिणी वेश्या का धन चाहना तो किसी हद तक ठीक है किन्तु ऊपर से वैराग्य का उपदेश करने वाले और अन्दर से धन के लोभी वंचक वाचाल को धिक्कार है।

धनिभ्यो धनमादाय श्लाघते शास्त्रपाठकः।
बहुभ्यो मिथुनीभूय धनिभ्यो गणिका यथा ॥१८॥

बहुत से धनियों से मैथुन के द्वारा धन प्राप्त करके वेश्या जिस तरह अपने विपुल धन, सुन्दर रूप और चतुरता का बखान करती रहती है, इसी प्रकार कोरा शास्त्रपाठी मनुष्य भी बहुत से धनियों के रंजन द्वारा धनोपार्जन करके "मैं बड़ा पण्डित हूँ, मैंने इतना धनोपार्जन किया, मेरे समान और कौन है" इत्यादि प्रकारसे अपना बड़प्पन बघारता रहता है (उस कोरे शास्त्रपाठी की यह आत्मप्रशंसा कामियों में वेश्या की आत्मप्रशंसा के समान उपेक्षणीय होती है)।

न शोभते तथैवायं लोभी वेदान्तवाचकः।
चौर्येण निगडे दत्तो जटाभस्मधरो यथा ॥१९॥

जटा और भस्म रमाये हुए किन्तु चोरी के अपराध से बेड़ियों में जकड़े हुए साधुवेशधारी की तरह लोभ के कारण वेदान्त की कथा करने वाला पण्डित भी शोभा नहीं पाता।

यदि वित्तार्जनेनैव विद्वांसो यान्ति गौरवम्।
कस्तर्हि वेश्याविदुषोर्विशेष इति वर्णय ॥२०॥

यदि धन कमा कर ही विद्वानों का गौरव होता हो तो (धन कमाने में एक सी चतुरता रखने वाले) विद्वान् और वेश्या का अन्तर बताओ ?

अनित्यमिति यो वक्ति सेवते नित्यमेव तत्।
बहिर्मुखस्य तस्यास्यं मा दर्शय महेश्वर ! ॥२१॥

जो आदमी नित्य ही इस संसार को नाशवान् बताता रहता है, परन्तु स्वयं निरन्तर उसी नाशवान् संसार में लिप्त हो रहा है, हे भगवान्! उस अन्तर्विषयी विरक्ताधम का हमें कभी मुख भी न दिखाओ।

कामकिंकरतां प्राप्त सकामाः सर्वकिंकराः।
कामेनैव परित्यक्तो निष्कामः कस्य किंकरः ॥२२॥

काम के दास बनकर कामी लोग सभी के दास हो जाते हैं; इच्छारहित निष्काम लोग तो किसी के भी दास नहीं होते।

अथ कर्मविडम्बना

वंशपात्रमिवापूर्णं पूर्णं घटशतैरपि।
क्रियाजालं कथं साधो ! विरागाय न जायते ॥१॥

हे साधो ! सैकड़ों घड़ों पानी से भरे जाने पर भी सदा अपूर्ण ही रहने वाले फटे हुए बाँस के बरतन की तरह, संसार के कामों में तुम्हें वैराग्य उत्पन्न क्यों नहीं होता है ?

ब्रह्मणो दिनमारभ्य यावदद्य कृताः क्रियाः।
मुहूर्त्तं हन्त संसारी नैव निश्चिन्ततां गतः ॥२॥

इस संसारी ने जब से यह सृष्टि प्रारम्भ हुई है तब ही से लेकर आज तक बराबर कर्म किये हैं। परन्तु तब से अब तक यह संसारी क्षणमात्र के लिए भी निश्चिन्त होकर नहीं बैठ सका है। (इतने लम्बे अनुभव के बाद अब भी यदि तुमपर इस कर्म को पूर्ण कर डालने की दुराशापिशाची सवार है तो फिर हम

क्या करें)।

अभाग्यं परमं पुंसां परपिण्डोपजीवनम्।
तत्कथं नाम सौभाग्यं पुत्रपिण्डोपजीवनम् ॥३॥

परभाग्योपजीवी होना पुरुषों का परम दुर्भाग्य है फिर भला पुत्र के दिये हुये पिण्डों से (इस लोक या परलोक में) जीवन धारण करना कहाँ का सौभाग्य कहा जायगा ?

मृतशब्देन सम्बोध्य मृतपिण्डं मृताहनि।
मृताय दास्यते पुत्रस्तद्वरं किमुतामृतम् ॥४॥

(जीवित काल में यदि किसी को 'प्रेत' कहकर पुकारा जाय तो वह बुरा मानता है, फिर भला) जब श्राद्ध में तुम्हारा (अनन्त कष्टों से पाला हुआ) पुत्र ही मरे हुए तुमको मृत्यु के दिन प्रेत नाम से सम्बोधन करके मृत पिण्ड (मरने के कारण मिला हुआ पिण्ड) देगा (या न देगा) तब वह (निकृष्ट पराधीन जीवन) तुम्हें सुखदायी प्रतीत होगा किंवा अमृतरूप मोक्षसुख (यही तो एक विचारणीय बात है)।

अशनायां पिपासां च शोकं मोहं जरां मृतिम्।
प्राप्नुवञ्छ्रुतिशास्त्रेभ्योमा भव श्राद्धभक्षकः ॥५॥

श्राद्धभोजी को भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा अकाल-मृत्यु अधिकता से प्राप्त होती है ऐसा शास्त्र में कहा है इसलिये तू (सन्तानोत्पति के द्वारा) श्राद्धभोजी मत बन।

दीर्घमायुर्जराभुक्त्यै, धनं भूरि दुराधये।
पुत्राः कलहदुःखाय, संसारे दुःखमद्भुतम् ॥६॥

बहुत काल तक जीने से बुढ़ापा भोगना होगा, बहुत धन (बहुत का अभिप्राय यह है, कि जीवन यात्रा का उपयोगी धन तो जीवन के कारण प्रारब्ध से ही होगा, विशेष भोग के लिये ही विशेष कर्म करना पड़ता है) कमाया जायगा तो बहुत सी चिन्तायें उत्पन्न होंगी, पुत्र बहुत से होंगे तो वे धन के लिये-तुमसे किंवा आपस में ही झगड़ा करके तुम्हें दुःख ही पहुँचायेंगे। इस प्रकार यह संसार अद्भुत प्रकार के दुःखों से भरा पड़ा है (परन्तु विचारे मूर्ख लोग इसे नहीं पहचानते और वे पहचाने भी कैसे जब कि-वे इस असार पदार्थ को संसार समझे बैठे हैं। फिर भला वे दुःख को सुख समझें तो इसमें आश्यर्च की

बात ही कौन सी है)

छायां पश्यति कायस्य रायो गर्वेण मुह्यति।

जायां भजति भावेन मायां नो वेद वैष्णवीम् ॥७॥

मूर्ख मनुष्य बैठा-बैठा दर्पण में शरीर की छाया को देखा करता है, धन के घमण्ड से मूर्च्छित-सा हुआ रहता है, जाया को भाव से भजन करता है हा शोक! कि इस मूर्ख प्राणी को वैष्णवी माया का पता ही नहीं है।

यात्रासमागमसमे न तार्कितगतागते।

पशुपुत्रकलत्रादौ ममता न मता समा ॥८॥

यात्रा में अकस्मात् मिले हुए यात्रियों की तरह अकारण ही जिनके संयोग और अकारण ही जिनके वियोग होते रहते हैं (जिनमें अपना कुछ भी बस नहीं चलता) ऐसे परबस मिले हुए पशु, पुत्र, स्त्री आदि में ममता करके कभी कोई सुख नहीं पा सकता, ऐसा विचारशील पुरुषों ने निर्णय किया है।

सुतरां गुरवोऽस्माकं वैयाकरणसत्तमाः।

आदिश्य ममतास्थाने समतां साधयन्ति ये ॥९॥

हमारी दृष्टि में तो हमारे देशिक (आत्मज्ञान देनेवाले गुरु) ही बड़े भारी वैयाकरण हैं, जो कि हमारी ममता को निकाल कर उसके स्थान पर समता का आदेश कर देते हैं।

त्यक्ष्यन्त्यवश्यं च त्वां, त्वं च त्यक्ष्यसि यानपि।

येषां त्यागे महत्सौख्यं तेषां त्यागेऽपि कःश्रमः ॥१०॥

(जिन स्त्रीपुत्रादि को तुम प्राणाधिक प्रेम करते हो, एक दिन आयेगा जब कि) वे तुम्हें छोड़कर चले जायेंगे, या फिर तुम ही स्वयं परवश होकर उन्हें छोड़कर कूच कर जाओगे (ये दोनों बातें आवश्म्भावी हैं) जिन विषयों को स्वतः छोड़ने के अनन्तर बड़ा ही सुख मिला करता है उनके त्याग देने से कौन-सा परिश्रम पड़ता है ?

व्यवहारविमूढानां स्तुतिनिन्दामयः क्रमः।

सोऽपि तत्कायपर्यन्तः कायः कतिदिनान्वयी ॥११॥

व्यवहार में उलझ कर पथभ्रष्ट हुए लोग ही स्तुति और निन्दा किया करते हैं। उनकी यह स्तुति और निन्दा केवल उस शरीर तक ही चलती

है, सोचो तो सही कि यह शरीर ही कितना टिकाऊ है?

एकतः सकला लोका विकर्षन्ति यथाबलम्।
पदार्थमालां बलवानेकः कालो गिलत्यसौ ॥१२॥

अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार एक छोर पर तो सारे जीव इस पदार्थ माला को अपनी अपनी ओर को ('यह मेरी ही है' इस ममता से) खींच रहे हैं, दूसरी ओर इस पदार्थ माला को अकेला महाबलशाली काल (ईश्वर) ग्रास करता चला जा रहा है।

लोला लक्ष्मीर्वयं लोला लोला विषयवृत्तयः।
किं सुखं तत्र यत्रांग! जीवनस्यैव संशयः ॥१३॥

लक्ष्मी अर्थात् विषयभोग की सामग्री अचिरस्थायिनी है, हम भोक्ता लोग भी कुछ अधिक दिन रहने वाले नहीं हैं, विषय प्राप्ति का विचार भी सदा नहीं बना रहता, फिर प्यारे! बताओ तो सही कि विषयों में सुख कैसे हो सकता है जब कि वहाँ आये दिन जीवन के ही लाले पड़े रहते हैं।

शोकमाहौ भयं दैन्यमाधिर्व्याधिः क्षुधा तृषा।
इत्यादि विविधं दुःखमिति संक्षेपकीर्त्तनम् ॥१४॥

शोक, मोह, भय, दीनता, आधि, व्याधि, भूख-प्यास ये दुःख भी तो (उस संसारी सुख में) भरे ही पड़े हैं (सुख का शुद्धरूप तो संसारी सुख में देखने को भी नहीं मिलता) यह विषयदुःखों का संक्षेप से कीर्त्तन हुआ।

अथ धर्मजिज्ञासा

अथातो धर्मजिज्ञासा धर्मः प्रोक्तश्चतुर्विधः।
नित्यो नैमित्तिकः काम्यः प्रायश्चित्तमिति क्रमात् ॥१॥

वैराग्य के निरूपण के अनन्तर चित्तशुद्धि के लिये ग्राह्य धर्मों का संग्रह करना आवश्यक है। इसलिए धर्म को जानने की इच्छा करनी चाहिए। नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रायश्चित्त भेद से वह धर्म चार प्रकार का होता है।

वर्णाश्रमसमाचाराः शौचस्नानादयश्च ये।
आवश्यकास्ते नित्याः स्युरकृत्य प्रत्यवैतियान् ॥२॥

जो धर्म (ब्राह्मणादि) वर्णों तथा (ब्रह्मचारी आदि) आश्रमों के आचाररूप हैं, जैसे कि राग त्यागादिरूप आन्तर-शुद्धि, स्नानादिरूप बाह्यशुद्धि

तथा सन्ध्यावन्दनादि, जिनको कि न करने से मनुष्य पाप का भागी होता है वे धर्म 'नित्यधर्म' कहाते हैं।

देशकालनिमित्ता ये ते तु नैमित्तिकाः स्मृताः।
संक्रान्तिग्रहणस्नानदानश्राद्धजपादयः ॥३॥

जो संक्रांति ग्रहण आदि काल तथा विशिष्ट पुण्य-क्षेत्रादि देश के कारण स्नान, दान, श्राद्ध, जप, यज्ञ तथा उपवासादि किये जाते हैं, वे 'नैमित्तिक धर्म' कहाते हैं।

प्रायश्चित्तात्मका धर्माः कृच्छ्रचान्द्रायणादयः।
कामनापूर्वकं काम्यं मुमुक्षोर्न विधीयते ॥४॥

(शरीर शोषण आदि द्वारा पापों की निवृत्ति करके दोषों को दूर करनेवाले) कृच्छ्रचान्द्रायणादि धर्म प्रायश्चित धर्म' कहाते हैं। किसी फल की कामना से किये जानेवाले 'काम्य कर्म' होते हैं, परन्तु मुमुक्षुओं को उनके करने का अधिकार नहीं होता।

हरिप्रसादकाम्या च चित्तशुद्धेश्च कामना।
मोक्षस्य कामना चेति कामनेयं न कामना ॥५॥

भगवान् को प्रसन्न करने, चित्त को शुद्ध करने तथा मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा, इच्छा नहीं कहाती (क्योंकि इन इच्छाओं से तो जीवत्वरूपी भ्रम का नाश हो जाता है और अन्य इच्छायें भी नष्ट हो जाती हैं)

तस्मात्तया कामनया स्नानदानजपादिकम्।
तीर्थव्रततपोनिष्ठा मोक्षकामैर्विधीयताम् ॥६॥

इसलिये ऊपर की इन तीनों कामनाओं को लेकर मुमुक्षुओं को भी स्नान दान जपादिक, तथा तीर्थ व्रत और तप में स्वाभाविक प्रीति, करनी ही चाहिए।

कर्मणां निर्णयं त्वेवं गीतायामाह माधवः।
सर्वथा न परित्याज्यं नित्यं कर्म मुमुक्षुणा ॥७॥

विहित कर्मों के (त्याग या अत्याग के) विषय में भगवान् ने गीता में यह निर्णय कहा है कि मोक्षेच्छुओं को सन्ध्यादि नित्य कर्म किसी प्रकार भी नहीं छोड़ना चाहिये।

ज्ञाने जातेपि न त्याज्यं लोकानुग्रहहेतुना।

यो वासनापरित्यागः कर्मत्यागः स एव हि ॥८॥

आत्मदर्शन हो जाने पर भी लोकसंग्रह (लोगों को कर्म करना सिखाने) के लिये ज्ञानी लोगों को कर्म करना नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि वासनाओं के परित्याग को ही 'कर्मत्याग' कहा जाता है।

न कर्मणां परित्यागः कर्मत्यागो मनोमयः।

यज्ञो दानं तपश्चेति पावनानि मनीषिणाम् ॥९॥

क्रियाओं का त्याग यथार्थ कर्मत्याग नहीं कहलाता, किन्तु मन से ही कर्मों का त्याग करना चाहिये। यज्ञ, दान और तप ये तो मनीषियों के चित्त को शुद्ध करनेवाले धर्म हैं। अतः त्यागने नहीं चाहिये।

कर्मणा चित्तशुद्धिः स्यात्तया तीव्रा मुमुक्षुता।

ततो विवेकान्मुक्तिः स्यात्कर्म त्याज्यं कथं तु तत् ॥१०॥

विहित कर्मों के आचरण से चित्तरूपी क्षेत्र रागादि मलों से रहित हो जाता है, उसमें तीव्र मोक्षेच्छारूपी बीज बोया जाता है, तीव्र मोक्षेच्छारूपी बीज से विवेकरूपी अंकुर का उदय होता है, उस पर बढ़ते-बढ़ते मोक्षरूपी फल लगते हैं। इतना उपकारक विहिताचरणरूपी कर्म भला किस प्रकार छोड़ देना चाहिए।

ये तु बोधेन संप्राप्तास्तात कर्मातिगां दशाम्।

न विधेः किंकरास्तस्मात्स्वच्छन्दं विचरन्तुते ॥११॥

हे तात! जो ज्ञान की महिमा से कर्म की ऊँची अवस्था को पा चुके हैं, वे तो विधि की आज्ञा मानेंगे ही नहीं, वे विधि के दास नहीं रहे हैं, उनको स्वच्छन्द घूमने दो।

अथ तपस्यातात्पर्यम्

कृता कपटभावेन दम्भलोभपरायणैः।

हट्टे नगरमध्ये वा सा तपस्याऽधमाः स्मृताः ॥१॥

दम्भ (लोगों से अपनी स्तुति कराने की इच्छा) और लोभ (द्रव्य प्राप्ति की इच्छा) को मन में रखकर कपट भाव से बाज़ार में या नगर ग्रामादिकों में बैठकर (जहाँ सब लोगों की दृष्टि पड़ती हो) जो तपस्या की जाती है वह

तपस्या निकृष्ट तपस्या कहाती है।

वेदशास्त्रोक्तविधिना शीतोष्णादिसहिष्णुना।

या कृता कामनापूर्वं सा तपस्या तु मध्यमा ॥२॥

वेद शास्त्र में कहीं हुई विधि से शीतोष्णादि सहन करते हुए किसी कामना से जो तपस्या की जाती है वह मध्यम तपस्या कहाती है। (यह भी मुमुक्षु के काम की नहीं होती)।

मनसो निग्रहार्थाय परमार्थपरायणा।

अकामा तत्त्वजिज्ञासोः सा तपस्योत्तमा मता ॥३॥

मनोनिग्रह करने के लिये केवल मोक्षरूप परमार्थ को प्राप्त करने के उद्‌देश्य से ऐहिक तथा पारलौकिक किसी भी इच्छा को न रखते हुए तत्त्वजिज्ञासु मुनि लोग जो तप किया करते हैं, वही श्रेष्ठ तपश्चर्या कहाती है।

आगते स्वागतं कुर्याद् गच्छन्तं न निवारयेत्।

यथाप्राप्तं सहेत् सर्वं सा तपस्योत्तमोत्तमा ॥४॥

(प्रारब्धवश) आनेवाले (सुख दुःख) का स्वागत करे, जानेवाले को रोके नहीं, जो जैसे प्राप्त हो उसे वैसे ही सहन करे, बस यही उत्तम से उत्तम तपस्या है।

अथ व्रतव्यवस्था

परदारपरद्रव्यपरद्रोहविवर्जनम्।

रागद्वेषपरित्यागो व्रतानामुत्तमं व्रतम् ॥१॥

दूसरों की स्त्री, दूसरों के द्रव्य तथा दूसरों के अनिष्ट-चिन्तन का परित्याग करना, राग द्वेष को छोड़ना, यह अन्य सम्पूर्ण (उपवासादि) व्रतों से भी उत्तम व्रत है।

तदुक्तं काशीखण्डे—

परदारपरद्रव्यपरद्रोहपराङ्मुखः।

गंगाप्याह कदागत्य मामयं पावयिष्यति ॥२॥

काशी खण्ड में कहा है कि—गंगा भी कहती है कि पराई स्त्री, पराये द्रव्य, और पराये द्रोह से विमुख मनुष्य कब मुझमें आकर स्नान करें और कब मैं पवित्र होऊँ।

अथ वेषविचारः

मुक्तिनास्ति जटाजूटे, न काषाये न मुण्डने।

न भस्मनि न कन्थायां तिलकेवा कमण्डलौ ॥१॥

बालों के गुच्छे से, गेरू आदि से रँगे हुए वस्त्र से, दाढ़ी मूँछ कटा डालने और सिर मुँडवा लने से, विभूति पोत लेने से, या चीथड़ों की गुदड़ी ओढ़ लेने से, तिलक छाप लगा लेने या कमण्डल पकड़ लेने से किसी को मुक्ति नहीं मिलती।

द्वेषेन ताड्यते सर्पो वृथा बल्मीकताडनम्।

मनसो निग्रहो नास्ति वृथा कायस्य मुण्डनम् ॥२॥

द्वेष के कारण साँप को तो मारा करते हैं, परन्तु साँप के बजाय बल्मीक (बमई) को पीटना तो व्यर्थ ही है, इसी प्रकार यदि मन को अपने व्यापारों से नहीं रोका गया है तो इस बिचारे शरीर का मुण्डन करा कर इसे विरूप बना देना तो निष्फल ही है।

चित्तविक्षेपशान्त्यर्थं जटाकन्थादिधारणम्।

कुरुते वीतरागश्चेदुत्तमोत्तममेव तत् ॥३॥

यदि वीतराग महात्मा लोग अपने चित्त के विक्षेप की शान्ति के लिये जटायें छोड़ दें गुदड़ी ओढ़ें या भस्मादि लेपन करने लगें तो वह सर्वोत्तम बात है परन्तु ये मुक्ति के मुख्य-साधन नहीं है।

अथ मौनमीमांसा

मौनं चतुर्विधं प्रोक्तं वाङ्मौनं वाग्विनिग्रहः।

ज्ञानेन्द्रियाणां संरोधस्त्वक्षमौनमुदाहृतम् ॥१॥

शास्त्रों में चार प्रकार का मौन कहा गया है, केवल वाणी का संयम पहिला 'वाग्मौन' कहाता है, चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों को अपने-अपने विषय से रोक रखना दूसरा 'अक्षमौन' कहाता है।

कर्मेन्द्रियाणां संरोधः काष्ठमौनं तु काष्ठवत्।

गौणं तु त्रिविधं मौनमुत्तमं तु मनोलयः ॥२॥

हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों को आदान चलन आदि व्यापारों से रोक कर काष्ठ के समान निश्चेष्ट कर देना तीसरा 'काष्ठमौन' कहाता है। यह तीनों प्रकार का

मौन ज्ञानोपार्जन में विशेष उपकारक न होने से अमुख्य मौन होता है, उत्तम मौन तो 'मनोलय' ही है।

न मौनी मूकतां यातो न मौनी दुग्धबालकः।

न मौनी व्रतनिष्ठोपि मौनी संलीनमानसः ॥३॥

गूँगा बन जानेवाला मौनी नहीं है, दूध पीनेवाला नन्हा बालक मौनी नहीं है, किसी व्रत के कारण कुछ न बोलने या कुछ न करने वाला मौनी नहीं है, मौनों तो वही है जिसका मन मर चुका हो।

मुनेर्भावस्तु मौनं स्याच्छब्दशास्त्रव्यवस्थया।

मुनेर्भावो यदि नास्ति तर्हि मौनं निरर्थकम् ॥४॥

व्याकरण के अनुसार तो मननशील पुरुष का भाव (आशय) अर्थात् निर्मनस्कता 'मौन' कहाती है, वैसी निर्मनस्कता यदि किसी ने सम्पादन नहीं की है तो यह लोकप्रसिद्ध (वाग्निरोध रूप) मौन तो निरर्थक ही है।

अथ दानज्ञानम्

कीर्त्तिदानं कामदानं दयादानमिति त्रिधा।

उत्तरादुत्तरं श्रेष्ठं तेभ्यः कृष्णार्पणं परम् ॥१॥

यश किंवा नाम कमाने के लिये दिया हुआ दान 'अधमदान' है। किसी बदले की इच्छा से दिया हुआ सकाम दान 'मध्यम दान' है। (मेरे धन से किन्हीं गरीब लोगों के कार्य सिद्ध हो जायँ इस) दया भावना से दिया गया दान 'उत्तम दान' है। परन्तु इन तीनों दानों से भी उत्तमदान तो यह है जो कि भगवदर्पण बुद्धि से दिया जाय। (उसमें देने वाले के अहंकार का लेश तथा देने लेनेवाले के भेद का भान नहीं होना चाहिये)।

अथ तीर्थतत्त्वम्

इदं तीर्थमिदं तीर्थमितस्मतीर्थमतः परम्।

इतो दूरतरं तीर्थं मया दृष्टं न तु त्वया ॥१॥

तव तीर्थफलं स्वल्पं मम तीर्थफलं महत्।

इति भ्रमन्ति ये तीर्थं ते भ्रान्ता न तु तैर्थिकाः ॥२॥

यह तीर्थ है, वह तीर्थ है, इधर तीर्थ है, उधर तीर्थ हैं, एक तीर्थ यहाँ से बहुत ही दूर है, वह मैंने देखा है तुने नहीं, तुम्हारे तीर्थ का थोड़ा फल है,

मेरे तीर्थ का अधिक फल है, इन भ्राँत विचारों को लेकर जो तीर्थाटन करते हैं वे तो भ्राँत हैं उन्हें तैर्थिक मत मानो।

तीर्थे पापक्षयः स्नानैस्तीर्थे साधुसमागमः।
तीर्थे वैराग्यचर्चा स्यात्तीर्थमीश्वरपूजनम् ॥३॥

तीर्थ में स्नान (दान आदि) करने से पापक्षय होता है। तीर्थ में जाने से विवेकी महात्माओं का संग हो जाता है। तीर्थ में वैराग्य चर्चा हुआ करती है। सबसे बड़ा तीर्थ तो ईश्वरपूजन (उसके लक्षणों से उसे पहचान लेना) ही है।

तीर्थं शीतोष्णसहनं तीर्थं निःसंगचारिता।
इति जानन्ति ये तीर्थं तीर्थतत्त्वविदो हि ते ॥४॥

सरदी गरमी आदि द्वन्द्वों को सहना भी एक भारी तीर्थ है, निःसंगचारी होना अर्थात् अपने-आपको असंग अनुभव करना यह भी एक बढ़िया तीर्थ है, इस प्रकार जो विवेकी लोग तीर्थों के यथार्थ रूप को समझते हैं, वे ही तीर्थों के मर्म को जानने वाले हैं।

अथाचारचातुरी

अनाचारस्तु मालिन्यमत्याचारस्तु मुर्खता।
विचाराचारसंयोगः सदाचारस्य लक्षणम्।

अनाचार (अर्थात् त्याग के धोखे में सदाचार को छोड़ बैठना) मलिनता है और अत्याचार (अर्थात् दिन-रात शरीर शुद्धि आदि आचार में ही फँसे रह जाना और परमार्थ विचार को समय न रहना यह) भी कोरी मूर्खता ही है। सच्चे सदाचार का लक्षण तो यह है कि विचार (हेय उपादेय का विवेक) और अचार (अपने योग्यकर्मों का आचरण) इन दोनों का संयोग बराबर बना रहे। कोई एक दूसरे की बाधा न करे।

अथ रागत्यागात्यागनिर्णयः

न विरक्ता धनैस्त्यक्ता न विरक्ता दिगम्बराः।
विशेषरक्ताः स्वपदे ते विरक्ता मता मम ॥१॥

धनहीन मनुष्य को वैरागी नहीं कहा जा सकता, दिगम्बर अर्थात् नंगों को भी विरक्त नहीं कह सकते, हम तो विरक्त उन्हें ही मानते हैं जो स्वपद अर्थात् अपने स्वरूप में ही विशेष रूप से आसक्त हो चुके हैं।

चौरास्त्यजन्ति गेहं स्वं भयेनैव न बोधतः।

जारास्त्यजन्ति गेहं स्व कामेनैव न बोधतः ॥२॥

राजदण्ड के डर से चोर लोग भी घरबार (कुटुम्ब आदि सब) छोड़ देते हैं, बोध के कारण नहीं। जार अर्थात् परस्त्रीगामी लोग भी अपने घर आदि को छोड़ देते हैं, उनका यह त्याग काम के कारण होता है ज्ञान के कारण नहीं (ज्ञान के बिना घर छोड़ने से विरक्त होते हों तो उनको भी विरक्त कहना होगा)।

क्रुद्धस्त्यजति गेहं स्व प्रतिवादिविरोधतः।

रुद्धस्त्यजति गेहं स्वं राधेनैव न बोधतः ॥३॥

क्रोधी मनुष्य अपना घर आदि सब कुछ प्रतिवादियों के विरोध से विवश होकर छोड़ बैठता है, कैद में डाला हुआ मनुष्य भी अपना घर आदि सब कुछ छोड़ देता है, उसका वह त्याग रोध के कारण होता है ज्ञान के कारण नहीं। (क्या भला ऐसा गृहत्यागी वैरागी कहा जा सकता है?)

निःसंगतासुखं प्राप्ताः कयाचिद्वोधलीलया।

गृहं त्यजन्ति मुनयो गृहस्था वा वने स्थिताः ॥४॥

किसी अनिर्वचनीय आनन्ददायिनी बोधलीला (के अप्रतिम प्रभाव) से असंगता सुख का भोग लेनेवाले विवेकी लोग तो घर-बार का मानस त्याग देते हैं, अर्थात् उन सबको मिथ्या रूपसे अनुभव करने लगते हैं। यही उनका छोड़ना कहाता है। फिर चाहे वे वन को चले जायँ, या घर पर ही डटे रहकर अपना प्रारब्ध भोग समाप्त करें।

मूढः किं त्यजतु, प्रमत्तमनसस्त्यागेन वा किं फलम्।

विज्ञः कर्म करोतु वा न कुरुतां त्यागेऽवलिप्तो न यत्॥

इत्येवं कृतनिश्चयः प्रवचनैरद्वैतविद्यावतां।

रागत्यागनिरादरो मुनिजनः पारे गिरां खेलति ॥५॥

अज्ञानी लोग तो त्याग ही कैसे कर सकते हैं! प्रमत्त मनवाले पुरुष के त्याग से फल ही क्या हो सकता है! विज्ञ के लिये कर्म करना या न करना दोनों बराबर हैं क्योंकि उसे कर्मत्याग (या कर्माचरण) में अहंकार ही नहीं रहता। अद्वैत विद्या जाननेवाले आचार्यों के मुख से इस प्रकार दृढ़ निश्चय कर लेनेवाला मुनि, राग या त्याग की कुछ भी परवाह न करता हुआ विधिवाक्यों की हद से बाहर हो कर खेलने लगता है (वह कभी तो कर्म से क्रीडा करने लगता है और

कभी त्याग से, उसको गुण दोष कुछ भी नहीं लगते)।

इत्ययं योगयुक्तानां रागत्यागविनिर्णयः।
त्यजतैव हि तज्ज्ञेयमितिवेदान्तनिर्णयात् ॥६॥

योगयुक्त पुरुषों के लिये कहा हुआ यह 'रागत्यागनिर्णय नामक प्रकरण समाप्त हुआ। क्योंकि त्यागशील पुरुष ही आत्मरूप को पा सकते हैं, ऐसा वेदान्तों में निर्णय किया जा चुका है (इस प्रकरण के विचार से अधिकारियों को त्याग के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान हो जायगा)।

अधिकारपरीक्षा

धर्मा बहुविधाः प्रोक्ताः शास्त्रे धर्माधिकारिणाम्।
तत्र तीव्रा मुमुक्षैव मोक्षे मुख्याधिकारिता ॥१॥

वेद में धर्म के अधिकारियों के लिये बहुत प्रकार के धर्म बताये गये हैं। उन सब धर्मों में मोक्ष धर्म के लिए, मोक्ष की तीव्र इच्छा ही मुख्याधिकारी का चिह्न बतायी गई है।

ज्योतिष्टोमे स्वर्गकामो विवाहे पुत्रकामवान्।
वाणिज्ये लोभवान् मोक्षे मुमुक्षुरधिकारवान् ॥२॥

स्वर्ग की इच्छावाले को ज्योतिष्टोम का, पुत्र की इच्छा वाले को विवाह का, धनाभिलाषी को व्यापार का तथा मुमुक्षु को मोक्ष (मोक्षसाधनों) का अधिकार होता है।

तीव्रा मुमुक्षा यद्यस्ति प्रज्ञामान्द्यं च वर्त्तते।
सच्छास्त्रविद्वच्चर्चाभिः प्रथमं तन्निवारयेत् ॥३॥

यदि किसी की मुमुक्षा तो तीव्र हो परन्तु बुद्धि मन्द हो तो उस अधिकारी को चाहिये कि वह सच्छास्त्रों के अवलोकन तथा ब्रह्मनिष्ठ विद्वानों से प्रश्नोत्तर के द्वारा अपनी बुद्धि की मन्दता को नष्ट कर दे।

वेदे नास्त्यधिकारोस्य मुमुक्षा यदि वर्त्तते।
विचारस्तेन कर्त्तव्यः पुराणश्रवणादिना ॥४॥

यदि किसी मुमुक्षु को वेदश्रवण का अधिकार (योग्यता) न हो तो उसे पुराण आदि श्रवण के द्वारा (आत्मा का) विचार करना चाहिये।

यदेव वेदे कथितं पुराणेपि तदेव हि।

न तु वेदाक्षरं श्राव्यमिति भाष्ये विनिर्णयः ॥५॥

वेदों के (ज्ञानकाण्ड) में जो बात बतायी गयी है पुराणों में भी उसी का वर्णन है। अनधिकारियों को वेदाक्षर सुनना नहीं चाहिये, ऐसा शारीरिक भाष्य में निर्णय किया गया है।

यथाधिकारविहितं कर्म सिद्ध्यति चान्यथा।

कार्यसिद्धिर्न जायेत प्रत्यवायो महान् भवेत् ॥६॥

अपने-अपने अधिकार के अनुकूल किये हुए विहित कर्म ही फलदायक होते हैं, अनधिकार चेष्टा करने से तो कार्य भी सिद्ध नहीं होता, साथ ही बड़ा भारी दोष (पाप) भी लगता है।

अथ सत्संगसुधा

सत्संगसुधया तात मन आनन्दितं यदा।

निश्चेतव्यं तदा मोहान्मम मुक्तिर्भविष्यति ॥१॥

हे तात! यदि सत्संगरूपी अमृत से तुम्हारा मन प्रफुल्लित होने लगा हो तो तुम निश्चय समझ लो कि 'अज्ञान से मेरी मुक्ति हो जायगी'। (सत्संगति का प्रेम ही होनेवाले मोक्ष का मुख्य चिह्न है)।

साधनानां हि सर्वेषां वरिष्ठा साधुसंगतिः।

एतया सिद्धया सिद्धं सर्वमेव हि साधनम् ॥२॥

सम्पूर्ण साधनों में साधुसंगति ही सबसे श्रेष्ठ साधन कहाता है, सत्संगति हो जाने से सब साधन अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं।

शश्वदीश्वरभक्ता ये विरक्ताः समदर्शनाः।

साधवः सेवितव्यास्ते मोक्षशास्त्रविशारदाः ॥३॥

जो निरन्तर ईश्वर की भक्ति करते रहते हैं जिनको ईश्वर से भिन्न सब पदार्थों में वैराग्य हो गया है, जो सम (ब्रह्म) दर्शी हैं, जिन्होंने मोक्षशास्त्रों का भले प्रकार मनन किया है, उनकी सेवा मुमुक्षु लोगों को करनी चाहिये।

येषां दर्शनमात्रेण मोक्षे श्रद्धा विवर्धते।
येषां च वाग्विलासेन संशयो विनिवर्तते ॥४॥
उपक्रमादितात्पर्यलिङ्गैस्तात्पर्यनिर्णयः।
विशेषसामान्यतया शास्त्रार्थानां व्यवस्थितिः ॥५॥

जिनके केवल दर्शन करने मात्र से मोक्ष में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती हो, जिनके वाग्विलास से संदेह निवृत हो जाते हों, उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति आदि (प्रकरण के अर्थ को विशद करने वाले) चिह्नों से जो तात्पर्य का निर्णय करा देते हों, (सम्पूर्ण वाक्य पृथक् पृथक् स्वस्वार्थबोधक होते हुए भी अन्ततः एकार्थपरक ही हैं इस प्रकार) विशेषसामान्यतया जिनके वाक्य से सब शास्त्रवाक्यों की व्यवस्था हो जाती हो।

वेदशास्त्राविरोधेन मोक्षमार्गप्रवेशनम्।
सम्प्रदायपरिज्ञानं मतभेदविनिर्णयः ॥६॥
पूर्वोत्तराभ्यां पक्षाभ्यां येषां वाक्यदवाप्यते।
ज्ञानिनः कर्णधारास्ते सेवितव्या हि साधवः ॥७॥

ऋगादि वेद तथा मीमांसादि का विरोध परिहार करते हुए मोक्ष के मार्गभूत ज्ञान में प्रवेश, मतभेद का निर्णय, और अध्यात्म सम्प्रदाय का परिज्ञान, ये सब बातें संवाद आदि रूप में पूर्वोत्तर पक्ष द्वारा जिनके वाक्य से हो जायँ, संसाररूपी समुद्र में डूबते हुए मुमुक्षुओं को ज्ञानरूपी नाव में चढ़ाकर पार उतारनेवाले ऐसे तत्त्वज्ञानी साधु केवटों का सेवन करना चाहिये।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥८॥

गीता में भी कहा है—हे अर्जुन! उस ज्ञान और ज्ञेय के तत्त्व को नम्रता से, प्रश्नादि वार्त्ता से और उन ज्ञानियों की सेवा से जान लो। वे तत्त्वदर्शी लोग ही तुम्हें ज्ञान के साधनों का उपदेश करेंगे।

अथ समन्वयसरस्वती

अवगाह्या विशेषेण समन्वयसरस्वती।
जायते मतभेदाख्यपङ्कप्रक्षालनं यया ॥१॥

हे शिष्य! तुम्हें यह 'समन्वयसरस्वती' नामक प्रकरण विशेषतया विचारना चाहिये। इसके विचार से मतभेदरूप में प्रतीत होनेवाला सभी मल निवृत्त हो जायगा।—

पदं पदार्थो वाक्यार्थस्तत्त्वानि मनसो यमः।
महावाक्यार्थविज्ञानं साधनानि क्रमेण हि ॥२॥

(१) पद (२) पद का वाच्य तथा लक्ष्यरूप पदार्थ (३) वाक्यार्थ (४) प्रकृति पुरुष महदादि सात तथा षोडशविकार इस प्रकार ये पच्चीस तत्त्व (५) मन का निरोध नामक योग तथा (६) तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के जीव ब्रह्मैक्यरूपी अर्थ का परिज्ञान ये क्रम से मोक्ष के छः प्रसिद्ध साधन माने गये हैं।

सर्वेषां तत्र तन्त्राणामुपयोगो यथायथम्।
वदामि तत्समासेन सर्वमेव यथायथम् ॥३॥

उन (छओं साधनों) में जिन समस्त शास्त्रों का जिस जिस प्रकार से उपयोग है वह सब मैं अब संक्षेप से वर्णन करता हूँ।

जायते शब्दशास्त्रेण पदव्युत्पत्तिरुत्तमा।
व्युत्पत्तिश्च पदार्थानां न्यायवैशेषिकोक्तिभिः ॥४॥

शब्दशास्त्र (व्याकरण) से पदों का यथार्थ ज्ञान होता है। न्याय तथा वैशेषिक से पदार्थों का (यह अर्थ वाच्य है या लक्ष्य इस प्रकार का तात्पर्य) ज्ञान होता है।

मीमांसया च वाक्यार्थव्युत्पत्तिः परिनिष्ठिता।
व्यक्तिः सांख्येन तत्त्वानां योगेन मनसो यमः ॥५॥

मीमांसाशास्त्र से वाक्यार्थ का ज्ञान परिपक्व हो जाता है। सांख्यशास्त्र से (प्रकृति आदि) तत्त्वों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। योगशास्त्र से अन्तःकरण का निरोध हो जाता है।

महावाक्यार्थविज्ञानं वेदान्तैर्ब्रह्मनिष्ठया।
इत्येवं सर्वतन्त्राणां ब्रह्मण्येव समन्वयः ॥६॥

ब्रह्मतत्त्व में यदि किसी का स्वाभाविक प्रेम हो तो वेदान्तों से (तत्त्वमसि आदि) महावाक्यों के (अभेदरूप) तात्पर्य का ज्ञान हो जाता है। अकेले वेदान्तविचार से महावाक्यार्थ का परिज्ञान नहीं होता। इस प्रकार सब शास्त्रों का ब्रह्म में ही समन्वय है।

अथाविरोधबोधः

प्रसंगादविरोधस्य बोधोप्यत्र निरूप्यते।
व्यवहारे द्वैतसत्वं द्वैताद्वैतमते समम् ॥१॥

अब प्रसंग से सब मतों का अविरोध भी बताये देते हैं। व्यवहारकाल में द्वैत की सत्यता तो द्वैत और अद्वैत दोनों मतों में समान रूप से मानी गयी है। (वेदान्ती व्यवहारकाल में द्वैत को मानता है, द्वैतवादी प्रतीति का विषय होने से द्वैत को मानता है। इस प्रकार दोनों मतों में परस्पर कोई विरोध नहीं है)।

अद्वैतकल्पितत्वं चाविरोधोऽतो मतद्वये।
विवदन्ति मुहुर्वादरसैस्तद्विवदन्तु ते ॥२॥

द्वैतवादी भी अद्वैत को कल्पित बताते हैं, और वेदान्ती भी सिद्धान्तरूप से अद्वैत को कल्पित ही मानते हैं, इस प्रकार इस मामले में भी दोनों मतों में विरोध नहीं है। तो भी जिन को केवल वादविवाद में ही रस आता है यदि वे लोग उस रस के कारण आपस में विवाद करते हैं तो किया करें (विवेकी या जिज्ञासु विवाद को छोड़ ही दें)।

यमास्त्वहिंसासत्याद्या नियमाः शुचितादयः।
सुखासने च संस्थानं प्रत्याहारस्तु सर्वतः ॥३॥

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये 'यम' शौच सन्तोष तप स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान से 'नियम' सुखदायक 'आसन' से शरीर में स्थिरता, (अथवा सुखस्वरूप ब्रह्म में वृत्ति की स्थिरता) तथा सब विषयों से इन्द्रियों का 'प्रत्याहार' (संकोच)।

धारणा च तथा ध्यानं समाधानं च चेतसः।
योगाङ्गसप्तकं त्वेतत् सर्वेषामपि सम्मतम् ॥४॥

'धारणा' (किसी विषय में चित्त का स्थापन), 'ध्यान' (किसी इष्ट वस्तु के

विषय में चित्त को इस प्रकार लगाना कि किसी दूसरे पदार्थ का उस काल में ज्ञान ही न हो) तथा चित्त की 'समाधि' (जब ध्याता ध्येयमात्र होकर रहने लगे) योग के ये सातों अंग तो सब को ही सम्मत हैं।

लये मन्त्रे हठे राज्ञि भक्तौ सांख्ये हरेर्मते।
मतैक्यमस्ति सर्वेषां ये बुधा मोक्षमार्गगाः ॥५॥

लययोग मन्त्रयोग हठयोग राजयोग भक्तियोग सांख्ययोग तथा श्रीकृष्ण के भागवत् धर्म में वेदान्तमत के साथ कोई भी विरोध नहीं है। इस बात का पता जिनको हो जाता है वे मोक्ष को पहुँच जाते हैं।

हठिनामधिकस्त्वेकः प्राणायामपरिश्रमः।
प्राणायामे मनःस्थैर्यं स तु कस्य न संमतः ॥६॥

हठयोगियों का प्राणायामपरिश्रम और सब मतों से पृथक् है। जिस प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर मन स्थिर हो जाता है वह प्राणायाम भला किस साधक को पसन्द न आयेगा।

विमुक्तिर्वादिनां तस्मान्मतभेदो न कश्चन।
कश्चित्कश्चिन्मते भेदस्त्वस्ति वेदान्तिनामपि ॥७॥

(फल में विरोध न होने से) सब मतवादियों की मुक्ति होने में कोई भी संशय नहीं रहा। इसलिये (क्योंकि एक ही मुक्तिस्वरूप फल सब को प्राप्त होता है) मतों में भी परस्पर कोई भेद नहीं मानना चाहिये। यों कोई कोई मतभेद तो वेदान्तियों में भी आपस में है (जैसे के कोई वेदान्ती एकजीववादी है कोई अनेकजीववादी इत्यादि)।

सांख्याञ्जनशलाका

नेत्रयोरञ्जनं कार्यं सांख्याञ्जनशलाकया।
ततस्तिमिरनाशेन सूक्ष्मवस्तु विलोक्यते ॥१॥

सांख्यरूपी अंजन की शलाका से (प्रकृतिपुरुषज्ञानरूपी) नेत्रों में (असंगत्वज्ञानरूपी) अंजन लगाना चाहिये, उससे (अज्ञानरूपी) तिमिर का नाश होकर सूक्ष्म पदार्थ देखा जा सकेगा।

कपिलेन मुकुन्देन देवहूती प्रबोधिता।
सर्वतत्वविवेकेन तत्सांख्यमभिधीयते ॥२॥

कपिलरूपधारी मुकुन्द ने देवहूती (नामक अपनी माता) को प्रकृति पुरुष आदि सब तत्त्वों का विवेक जिस शास्त्र से कराया वह सांख्य शास्त्र कहाया।

सर्वा विकृतयो यस्याः स्थूलसूक्ष्माश्चराचराः।
अस्ति काचिदनिर्देश्या प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका ॥३॥

स्थूल सूक्ष्म भूत तथा ये जङ्गम स्थावर आदि सब ही जिसके विकार हैं, ऐसी कोई सत्त्व रज तम इन तीनों गुणोंवाली अनिर्वचनीय प्रकृति है (जिसके कारण से यह सब जगत् प्रतीत हो रहा है)।

महत्तत्त्वमहंकारः पञ्चतन्मात्रकाणि च।
प्रकृतिर्विकृतिश्चेति सप्तैतानि भवन्ति हि ॥४॥

महत्त्व, अहंकर, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पाँच तन्मात्रा ये सातों कार्य भी होते हैं और कारण भी होते हैं।

स्वकारणानां विकृतिः, प्रकृतिः स्वोद्भवस्य यत्।
एवमष्टौ प्रकृतयस्ततो विकृतयोऽभवन् ॥५॥

महत् आदि प्रत्येक अपने-अपने कारणों के तो विकार (कार्य) हैं परन्तु अपने से उत्पन्न हुए कार्यों के प्रकृति (कारण) कहाते हैं। इस प्रकार मूल प्रकृति को साथ गिन कर सांख्यमत में आठ प्रकृति होती हैं। इन आठों से ही विकार (कार्य) उत्पन्न हो जाते हैं।

व्योमादि पंच भूतानि पंच ज्ञानेन्द्रियाणि च।
कर्मेन्द्रियाणि पंचैव मनसा सह षोडश ॥६॥

आकाशादि पाँच भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन यह सोलह विकार कहाते हैं।

खंवायुरग्निस्तोयं भूर्भूतपञ्चकमुच्यते।
शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धस्तेषां गुणाः क्रमात् ॥७॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पाँच 'भूत' कहाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये पाँचों भूतों के क्रम से 'गुण' कहे जाते हैं।

क्षोत्रं त्वक् चक्षु रसनं घ्राणं ज्ञानेन्द्रियाणि च।
वाक् पाणिपादपाय्वादि पंच कर्मेन्द्रियाणि च ॥८॥

श्रोत्र, स्पर्श, चक्षु, रसना तथा घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाणी, पाणि, पाद, गुदा तथा उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।

उभयात्मा मनस्तेन चतुर्विंशतिरीरिता।
तत्त्वानां, तद्विकारस्तु सर्वं चैव जगत्त्रयम् ॥९॥

(संकल्पविकल्परूप) मन तो उभयात्मा है (अर्थात् यह मन ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों का साधनभूत है) इस प्रकार ये सब चौबीस तत्त्व हुए। यह त्रिभुवन इन्ही तत्त्वों का कार्य है।

प्रकृतेस्त्रिगुणात्मत्वात्सर्वं हि त्रिगुणात्मकम्।
रक्तश्वेतश्यामरूपा रजःसत्त्वतमोगुणाः ॥१०॥

(सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्थारूप) प्रकृति क्योंकि त्रिगुणात्मक है इसलिये उसका कार्य यह समस्त जगत् भी त्रिगुणात्मक ही है। सत्त्व, रज तथा तम ये तीनों गुण क्रम से श्वेत रक्त तथा कृष्णरूपवाले हैं।

रजश्चलं, तमःस्तब्धं, प्रकाशस्सात्त्विको मतः।
तमोऽधमं, रजोमध्यं, सत्त्वमुत्तममेव हि ॥११॥

रजोगुण का स्वभाव चंचल, तमोगुण का स्वभाव मूढ़ तथा सत्त्वगुण का स्वभाव, प्रकाश है। तमोगुण नीच स्वभाववाला, रजोगुण मध्य स्वभाववाला, तथा सत्त्वगुण उच्च स्वभाववाला होता है।

लोभादयो रजोभावास्तमसो जडातादयः।
सुखप्रसादबोधाद्या भावाः सत्त्वस्य कीर्तिताः ॥१२॥

लोभ तथा इन्द्रियचापल्य आदि रजोगुण के कार्य हैं। जडता मोह क्रोधादि तमोगुण के कार्य हैं। सुख, अन्तःकरण की निर्मलता, बोध तथा शमदमादि सत्त्वगुण के कार्य कहे गये हैं। (इस से यह निष्कर्ष निकाल लो कि यह जगत् प्रकृति के गुणों का कार्य है)।

देवादयः सात्त्विकाः स्युर्नराद्या राजसाः स्मृताः।
तामसाः पशुभूताद्या एवं सर्वं विविच्यताम् ॥१३॥

देवादि सत्त्वगुण से, मनुष्य आदि रजोगुण से, तथा पशु भूत कीट पतंग आदि तमोगुण से उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार सब पदार्थों में सात्त्विक राजस तामस का भेद समझ लेना चाहिये।

विरोधिनस्सहायाश्च मिथः कार्यं च कारणम्।
मिलित्वा कार्यकर्तारो गुणा विषमचेष्टिताः ॥१४॥

ये सत्त्व आदि गुण एक दूसरे के विरोधी भी है और (कार्योत्पत्ति में) परस्पर सहायक भी हैं। एक दूसरे के परस्पर कार्य भी हैं और कारण भी हैं। सत्त्व प्रकाशक हैं, रज चांचल्यरूप है, इस प्रकार इन सबका व्यवहार विषम अर्थात् एक दूसरे को नष्ट करनेवाला है, तो भी ये गुण एक दूसरे के साथ मिलकर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा नाश करते ही रहते हैं।

विश्वं गुणात्मकं सर्वमात्मा निर्गुण एव हि।
प्रकाशकतया तत्र प्रविष्ट इव भासते ॥१५॥

यह समस्त विश्व गुणरूप है, परन्तु आत्मा तो निर्गुण ही है। वह इन समस्त गुणों के अन्दर तथा इस समस्त विश्व में प्रकाशरूप से प्रविष्ट हुआ सा प्रतीत होने लगा है।

यथा द्वात्रिंशद्दन्तस्था रसज्ञा रसवेदिनी।
चतुर्विंशतितत्त्वान्तः स्वात्मज्ञस्तत्त्ववित्तथा ॥१६॥

जिस प्रकार बत्तीस दाँतों के बीच में रहनेवाली केवल जिह्वा ही रस को पहचानती है (विचारे दाँत रस को नहीं पहचानते) इसी प्रकार अपने ज्ञान के प्रभाव से, चौबीसों तत्त्वों का अन्त कर देनेवाला अथवा चौबीस तत्त्वों के अन्दर रहने वाला आत्मदर्शी ही इन तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को समझता है (वही पुरुष कहाता है। इन चौबीसों तत्त्वों को आत्मतत्त्व का पता ही नहीं है आत्मा को तो केवल तत्त्वज्ञानी ही पहचानता है)।

एकमेव निजं नाथं माया विषयलम्पटा।
बहुरूपधरं कृत्वा वेश्येव खलु खेलति ॥१७॥

विषयों की लोभिन यह प्रकृति ही अपने अकेले नाथ को बहुरूपधारी बना लेती है और फिर वेश्या की तरह (उस (अनेक रूपधारी) के साथ यह जगद्रूप) क्रीडा किया करती है।

अपृथग्भावरूपेण मिलित्वा पुरुषेण हि।
विचित्राकाररूपैस्तं सन्नर्तयति नर्तकी ॥१८॥

यह मायारूपी नटनी पहले तो पुरुष के साथ अपनी सत्ता को बिलकुल मिला देती है और फिर विचित्र आकार तथा विचित्र रूपों से उस अपने मायामोहित पुरुष को नचाया करती है।

निर्दोषो निश्चलो नाथः सदोषा चञ्चला वधूः।
दम्पत्योरनयोर्नूनं रसभङ्गो भविष्यति ॥१९॥

यह जीव तो वस्तुतः निर्दोष और उपाधि से रहित है, निश्चल है (सदा एक रूप है) परन्तु प्रकृतिरूपी उसकी यह वधू तो दोषों से भरी है (यह अस्थिर है अनेकरूप है) इन दोनों के विरुद्ध स्वभाव को देखकर हमें तो यही निश्चय होता है कि इन (स्त्री पुरुषों) का रसभंग होकर ही रहेगा। इनकी अन्त तक निभेगी ही नहीं। अथवा यों समझो कि जगत्‌रूपी प्रजा की उत्पत्ति के लिये स्त्री और पुरुष के रूप में वर्त्तमान इन अत्यन्त भिन्न स्वभाव वाले प्रकृतिपुरुषों का कभी न कभी अवश्य ही रसभंग (सुखनाश, दुःखोत्पत्ति) हो जायगा, अर्थात् उससे वैराग्य होकर प्रकृति और पुरुष का विवेक होकर रहेगा।

पृथक्त्वेन परिज्ञाता दुष्टरूपतयापि च।
न मुखं दर्शयत्येषा सलज्जा म्रियतेऽपि च ॥२०॥

ज़ब कि उस पुरुष को इस प्रकृति के विलक्षण स्वभाव तथा इसकी दुष्टरूपता का परिज्ञान हो जायेगा (जब प्रकृति को यह पता चलेगा कि इसे मेरे दोषों का ज्ञान हो गया है) तब यह प्रकृतिरूपी वधू उस पुरुष को कभी मुँह न दिखायेगी और अन्त में तो लज्जा के बोझ को न सह कर मर भी जायेगी।

प्रकृतिर्विकृतिर्नापि पुरुषो निश्चलात्मकः।
शुद्धबुद्धस्वरूपोऽसाविति सांख्यविनिर्णयः ॥२१॥

पुरुष तो न किसी का कारण है और न किसी का कार्य है किन्तु वह तो निश्चल शुद्धबुद्धस्वरूप है ऐसा सांख्य का निर्णय है।



